# आजकल

दिसंबर : 1980

एक रुपया

## लक्ष्मीनारायण लाल से बातचीत

समकालीन रंगकर्म : समस्या और समाधान

समकालीन रंगमंच : एक पड़ताल

रामकथा से रंगमंच तक : राधेश्याम कथावाचक

वल्लारि राघव : तेलुगु रंगकर्मी को जन्मशती

सांग : राजेंद्रकुमार शर्मा की कहानी

रंगमंच का धर्म—विश्वजनीन

□ सत्येंद्र शरत



रं वि
ग शे
सं षां
व क





# आजकल

## आधुनिक साहित्य एवं संस्कृति का संवाहक मासिक

वर्ष : 36; अंक : 8
दिसंबर : 1980
(अग्रहायण-पौष 1902)

रंगमंच पर
विशिष्ट सामग्री

### लेख

4. रंगमंच का धर्म—विश्वजनीन : **सत्येंद्र शरत**
6. समकालीन हिंदी रंगकर्म : समस्या और समाधान : **जयदेव तनेजा**
11. समकालीन रंगमंच : एक पड़ताल : **विनय दास**
19. बाबा दीन दरवेश : **कांतिकुमार भट्ट**
22. राधेश्याम कथावाचक : **कृष्ण बलदेव शर्मा**
37. काव्य-मंचन की प्रासंगिकता : **महेश दर्पण**
38. कथा-मंचन : संप्रेषण का प्रश्न : **विनोद**
45. वल्लारि राघव : **ए० कमलनाथ 'पंकज'**
47. एशियाई खेल : **योगराज थानी**
50. शायरी का ताजमहल : **रामावतार त्यागी**

### लेखक से बातचीत

2. लक्ष्मीनारायण लाल : **नूर नबी अब्बासी**

### कथा-कहानी/नाटक

14. सांग : **राजेंद्र कुमार शर्मा**
25. मरने की खुशियां : **लाभशंकर ठाकुर**

### काव्य

**जगजीत गगन, किसलय वंद्योपाध्याय, विजेंद्र अनिल, बलराम**

**आत्मकथ्य; समीक्षा; रपट; समसामयिक**

**'आजकल' का चंदा :** एक प्रति 1 रुपया, वार्षिक 10 रुपए, द्विवार्षिक 18 रुपए तथा त्रिवार्षिक 25 रुपए मात्र। (छात्रों तथा अध्यापकों के लिए चंदे में दस प्रतिशत की विशेष छूट। इसके लिए प्रमाणपत्र भेजना आवश्यक है)। 'आजकल' के नियमित ग्राहकों को, प्रकाशन विभाग की 5 रुपए या अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर 20 प्रतिशत छूट दी जाती है।

**विदेश में :** एक प्रति : 30 सेंट या 15 पेंस; वार्षिक : 3 डालर या 1.50 पौंड; द्विवार्षिक : 5.40 डालर या 2.70 पौंड; त्रिवार्षिक : 7.50 डालर या 3.75 पौंड।

**चंदा एवं विज्ञापन तथा पत्रिका न मिलने की शिकायत भेजने का पता :** व्यापार व्यवस्थापक, पटियाला हाउस, नई दिल्ली। ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें।

संपादकीय पत्र-व्यवहार : संपादक 'आजकल' (हिंदी), पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 (टेलीफोन : 387069)

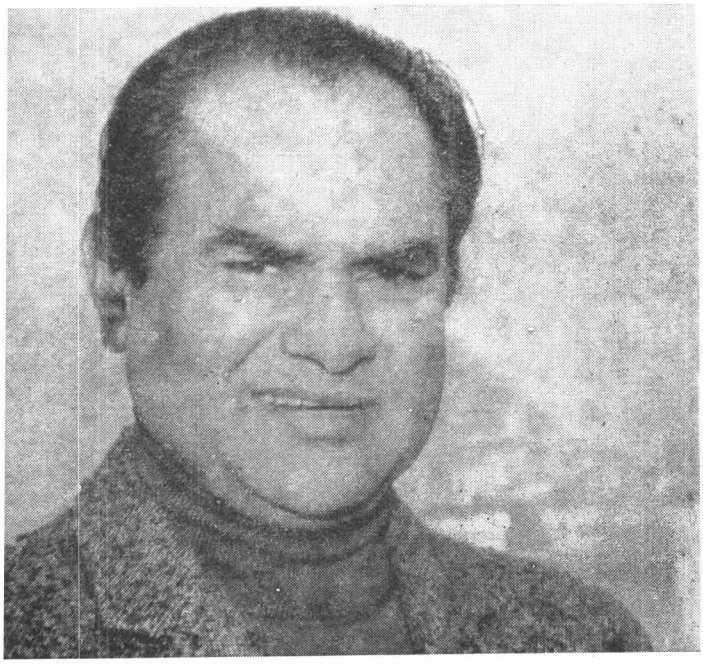
**संपादक :**
**वेदप्रकाश अरोड़ा**
**उप-संपादक :**
**योगेंद्र दत्त शर्मा**
**आवरण सज्जा :**
**मेघजी परमार**

## लेखक से बातचीत

# लक्ष्मीनारायण लाल

एक सत्य हरिश्चंद्र, यक्षप्रश्न, अब्दुल्ला दीवाना, राम की लड़ाई, सब रंग मोह भंग, पंच पुरुष, गंगामाटी आदि के लेखक

## "...रंगमंच लोकप्रिय इसलिए नहीं हो पाया है कि हमारे यहां की लोकरुचि और लोक-धरातल को मद्दे-नज़र रखकर बहुत कम लोग नाटक करते हैं!..."



प्रख्यात नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल

**● दिल्ली में विगत तीस वर्षों में अनेक नाटक मंडलियां उभरीं, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने सैकड़ों विद्यार्थियों को प्रशिक्षित किया और संगीत नाटक अकादमी ने भरपूर प्रोत्साहन और संरक्षण दिया, फिर भी उत्तर भारत में रंगमंच ने एक आंदोलन का रूप धारण नहीं किया? आपके विचार में इसका क्या कारण है?**

इसके तीन कारण हैं। पहला कारण यह है कि हमारे यहां का आम दर्शक रंगमंच कतई न समझता है, न जानता है और न जानना चाहता है। मतलब यह कि उसके प्रति उसे कोई आकर्षण नहीं है और ये सारे लोग जो तथाकथित आधुनिक नाटक करते हैं, उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाते। दूसरा यह कि हमारे यहां, चाहे दिल्ली हो, चाहे कलकत्ता या फिर बंबई, आम आदमी नाटक देखने के लिए पैसा दे, समय दे और साथ-ही-साथ उसको अपने जीवन का अभिन्न अंग माने, ऐसी परंपरा ही नहीं है। तीसरा, हमारी परंपरा में रंगमंच और नाटक एक ओर धार्मिक आयाम और प्रसंग लिए हुए है, दूसरी ओर शुद्ध मनोरंजन-लोकानुरंजन का संदर्भ लिए हुए है। इन तीनों कारणों का कोई भी उत्तर, 33 वर्षों में जिस तरह से यहां नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं, उनके पास है ही नहीं। जहां तक आंदोलन का सवाल है, हमारे यहां किसी बड़ी चीज के लिए आंदोलन कभी नहीं होता। आंदोलन केवल राजनीतिक क्षेत्र का विषय है या कभी-कभार धार्मिक क्षेत्र का।

**● साहित्य तथा कलाओं की भांति नाटक के क्षेत्र में भी भारत पाश्चात्य देशों से प्रभाव ग्रहण करता रहा है। पारसी थियेटर से लेकर आज तक नाटक की मंचन-कला का जो विकास हुआ है, उस पर भी कहीं इब्सन और ब्रेख्त तो कहीं स्टानिस्लावस्की का प्रभाव देखा जा सकता है। किन्तु इस इस सबके बावजूद रंगमंच लोकप्रिय नहीं हो पाया। ऐसा क्यों?**

रंगमंच लोकप्रिय इसलिए नहीं हो पाया है कि हमारे यहां की लोकरुचि और लोक-धरातल को मद्देनजर रखकर बहुत कम लोग नाटक करते हैं। उनकी नजर में तो अब भी इब्सन, स्टानिस्लावस्की, ब्रेख्त—यानी पूरा पश्चिम थियेटर छाया हुआ है। हमारे यहां लोकप्रिय क्या है? या तो फिल्म—वह भी बहुत घटिया फिल्म—और दूसरी ओर गाना, नाच, फूहड़ मजाक से भरा हुआ और धार्मिक लीलाओं से लबालब नाटक। उसमें कोई यह परवाह नहीं करता है कि वह कितने बुरे ढंग से खेला जा रहा है या अच्छे ढंग से। उसे तो बस मनोरंजन ही

**प्रस्तुति : नूर नबी अब्बासी**

चाहिए, ठीक उसी तरह से जैसे हमारे यहां खाना खाने की आदत। भोजन चाहे अच्छा है या नहीं, मिलना चाहिए। वे न तो यह देखते हैं कि कैसे मिलता है और न यह कि वह कैसे खाया जा रहा है। इसकी उन्हें कोई चिंता नहीं है।

● **दक्षिण, महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल में लोग नाटकों को इतना क्यों पसंद करते हैं! वहां इस परंपरा के फलने-फुलने के क्या कारण हैं?**

इसका कारण धार्मिक है और साथ ही, उनके समाज की बनावट का इसमें बहुत बड़ा हाथ है। जैसे, रामलीला, रासलीला हमारे यहां भी बहुत लोकप्रिय है, चूंकि उसके पीछे धर्म है, मगर महाराष्ट्र और बंगाल में सामाजिक नाटक भी लोकप्रिय हैं। इसके पीछे इन दोनों अंचलों के सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों का बहुत बड़ा हाथ है, जैसे—महाराष्ट्र में नारी-शिक्षा आंदोलन, गणेश-पूजा सांस्कृतिक आंदोलन, बंगाल में काली-पूजा और दुर्गा-पूजा सांस्कृतिक आंदोलन। इन आंदोलनों से सतत गायक, कलाकार, अभिनेता, दर्शक सभी तैयार होते रहते हैं और सब उसके सहभागी होते रहते हैं। ऐसा कुछ हिंदी क्षेत्र में नहीं होता है।

● **लोग प्रायः मूल हिंदी नाटकों को छोड़कर अनुवादों की ओर क्यों दौड़ते हैं, चाहे वे अहिंदी भाषा के नाटक हों या अंग्रेजी भाषा के?**

इसके दो कारण हैं। पहला, हिंद क्षेत्र में, विशेषकर दिल्ली और लखनऊ में, जितने भी महत्वपूर्ण निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता हैं वे सबके सब अहिंदी विद्वान हैं। स्वभावतः वे हिंदी को अपमानित करने के लिए, उसके प्रति अवज्ञा दिखाने के लिए गैर-हिंदी नाटक ही ज्यादा पसंद करते हैं। दूसरा, एक व्यावहारिक कारण यह है कि ये निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता, दूसरी भाषा के महत्वपूर्ण नाटकों का प्रदर्शन देख आते हैं और उसकी नकल बड़ी आसानी से हिंदी में रूपांतर करके प्रस्तुत कर देते हैं। तीसरा कारण यह है कि हिंदी क्षेत्र का निर्देशक, प्रस्तुतकर्ता—मानसिक गुलामी का, सांस्कृनिक खोखलेपन का बड़ा शिकार है। वह अपनी चीज कभी पसंद नहीं करता, हमेशा दूसरों की चीज पसंद करता है, चाहे वह औरत हो या नाटक।

● **विदेशों में कलाकार चाहे मंच से निकलकर चित्रपट में क्यों न चला जाए, उसकी थियेटर के प्रति रुचि बनी रहती है और इंग्लैंड में किए जाने वाले नाटक के लिए अमरीका से अभिनेता को बुलाया जाता है। भारत में ऐसा क्यों है कि थियेटर को लोग चित्रपट में प्रवेश के लिए एक माध्यम बना लेते है और फिर उसकी ओर कभी रुख नहीं करते?**

पूरे हिंदुस्तान की यह स्थिति है और खासकर हिंदी की स्थिति तो बहुत ही गंभीर है। वहां के आदमी में न तो अपनी भाषा के प्रति निष्ठा है, न संस्कृति में निष्ठा है। इसकी दो निष्ठाएं हैं: पहली किसी तरह से रातों रात धन मिल जाए, और दूसरी, नाम मिल जाए। इसके लिए उसे न किसी परंपरा की परवाह है और न किसी अन्य जीवन-निष्ठा की। जबकि पश्चिम में ठीक इससे उल्टा है। लोग फिल्म की अपेक्षा थियेटर को बड़ा इसलिए मानते हैं और बड़ा महत्व देते हैं क्योंकि थियेटर का संबंध देश और समाज से है, सांस्कृतिक विकास और जीवन-निष्ठा से है। फिल्म का ज्यादातर संबंध व्यवसाय से है।

● **व्यावसायिक थियेटर की असफलता के क्या कारण हैं? पृथ्वी थियेटर्स, हिंदुस्तानी थियेटर, नया थियेटर इस दिशा में असफल क्यों रहे?**

हमारे यहां जो-कुछ भी मंच पर प्रस्तुत होता है, उसके लिए कोई टिकट खरीदकर जाए, यह हमारी परंपरा में कहीं भी नहीं है। हमारे यहां सब कुछ राजा की ओर से मुफ्त में दिखाया जाता था और जो इसे देखता था, राज्य उसके प्रति कृतज्ञ होता था। मंच की प्रस्तुति के साथ टिकट का संयोग हमारे जीवन में कहीं नहीं है। लेकिन फिल्म चौगुने दाम के टिकट खरीदकर या चाहे जितना भी लगे उतना देकर, जनता उसे देखती है और सदा देखती रहेगी। इसका कारण यह है कि इसका रिश्ता अदृश्य लोक से है। फिल्म मंच की चीज नहीं है, बल्कि भावना और कल्पना-जगत की चीज है। इसलिए इसे देखने के लिए कोई कितना भी खर्च दे, उसे चिंता नहीं होती है, जैसे अदृश्य भगवान का दर्शन, अदृश्य देवी-देवताओं का दर्शन। पृथ्वी थियेटर तभी तक एक खास समाज में लोकप्रिय रहा जब तक उसमें राजकपूर, शशि कपूर जैसे फिल्मी अभिनेता रहे। हिंदुस्तानी थियेटर और नया थियेटर महज उसी हद तक लोकप्रिय रहे हैं जिस हद तक लोग उनके नएपन में और खासतौर पर हबीब तनवीर के लिए दिलचस्पी रखते रहे हैं। हमारे यहां का दर्शक टिकट लेकर नाटक देखना कभी पसंद नहीं करेगा, चाहे जैसा भी नाटक हो। हां, वह टिकट खरीद कर किसी धार्मिक पुरुष कों, देवी-देवता को, शायद, देखना पसंद करेगा। फिल्म की दुनिया चाहे जितनी मार-काट और यथार्थ के दृश्यों से भरी हो, लेकिन उसका रिश्ता कहीं-न-कहीं वे लोग हमारे धार्मिक पाखंड और अंधविश्वास से जरूर जोड़ते हैं।

● **लोक-नाट्य के प्रति रुचि-अरुचि के क्या कारण हैं?**

जो लोग शहर में रहते हैं उनका समय और जीवन महत्वपूर्ण है। इस सबसे अलग नाटक को शहर में ले जाएंगे, उसको ठीक ढंग से प्रस्तुत करेंगे, तो वैसे ही लोग भाग जाएंगे। शहर का आदमी उसे देहाती मानेगा और देहात का आदमी उसको नकली मानेगा।

● **हिंदी में रंगमंच के विकास की क्या संभावनाएं हैं?**

हिंदी में रंगमंच के विकास का संबंध बड़े फिल्मी ढंग का है। बहुत सारे लोग फिल्मों में जाने के लिए सरकारी, गैर-सरकारी और अर्द्ध-सरकारी नौकरी पाने के लिए, टेलीविजन और रेडियों में घुसने के लिए इसे महज एक सीढ़ी समझते रहेंगे। इससे अधिक किसी को कोई भी रुचि फिलहाल नहीं

(शेष पृष्ठ 46 पर)

# रंगमंच का धर्म-विश्वजनीन

सत्येंद्र शरत

पश्चिमी जर्मनी, नीदरलैंड्, फ्रांस, इटली और लंदन में हाल ही में प्रदर्शित, विजय तेंदूलकर के नाटक **घासीराम** कोतवाल की अभूतपुर्व सफलता और लोकप्रियता ने फिर यह सत्य स्थापित कर दिया है कि नाटक पाश्चात्य भाषा का हो या पूर्वी भाषा का **उसका धर्म एक ही होता हैं—विश्वजनीन!** बिजय तेंदूलकर के इस मराठी दाटक के यूरोप में अक्तूबर-नवंबर महीनों में लगभग 25 शो हुए हैं और हर देश के दर्शकों और नाटक-समीक्षकों ने इस नाटक की अत्यधिक सराहना की है। 'द फाइनेंशल टाइम्स, 'द गार्जियन' और 'द टाइम्स' ने नाटक की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इस नाटक को पाश्वात्य रंग-शिल्प तथा भारतीय रंग-शिल्प का बहुय ही सुंदर सम्मिश्रण कहा है।

और यह सब उस स्थिति में—जबकि नाटक उन देशों में बोली जानेवाली भाषाओं में नहीं, मूल मराठी में खेला गया था। यह बात फिर उसी सत्य को दोहराती है कि **रंगमंच-नाटक को समझने के लिए भाषा जरूरी नहीं** है। नाटक देशी हो या विदेशी, वह व्यक्ति के प्यार, उसकी घृणा, उसकी पीड़ा, उसके संघर्ष, उसके मानसिक अंतद्वद्व, उसके पतन और उसके उत्थान की कहानी कहता है। नाटक चाहे यूनान के सोफोक्लिस का 'एंटीगनी' हो, या भारतवर्ष के भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'सत्य हरिश्चंद्र', रंगधर्म की दृष्टि से वह कहीं-न-कहीं एक दूसरे से जुड़ा होता है। अपने भाई के शब को दफनाने के लिए राजकुमारी एंटीगनी को अपनी जान देनी पड़ती है; और विश्वामित्र मुनी को दिए बचन को पूरा करने के लिए राजा हरिश्चंद्र को श्मशान के चांडाल का दास बनना पड़ता है। क्या इन नाटकों में कहीं कोई समानता नहीं है? व्यक्ति के संघर्ष की, अपनी आत्मा के विरुद्ध कोई काम न करने की, अपने कर्तव्य का पालन करते हुए उसके लिए मिट जाने की—किंतु इतिहास के लिए, युग के लिए भी जी जाने की?

कोई भी सशक्त, प्राणवान और जीवन्त नाटक भले ही वह किसी भी देश में, किसी भी भाषा में, किसी भी काल में क्यों न लिखा गया हो—पूर्वी या पश्चिमी नाटक नहीं; समूचे विश्व का नाटक होता है। आर्थर मिलर के सुप्रसिद्ध नाटक 'द डैथ आफ ए सेल्समैन' का विली लोमेन, मात्र अमरीकी मध्यवर्गीय स्वप्नदर्शी पिता नहीं है, वह कोई भारतीय, जर्मन, या जापानी मध्यवर्गीय स्वप्नदर्शी पिता भी हो सकता है। वह समूचे विश्व के उन असफल पिताओं का प्रतीक है, जो ये सपने देखते हैं उनके बेटे उनकी अपूर्ण आकांक्षाओं को साकार कर देंगे। एक 'डैथ आफ ए सेल्समेन' ही क्यों, शेक्सपियर के 'मेकबेथ' से लेकर 'आथेलो' तक, इबसन के 'गुड़िया के घर' से लेकर 'प्रेत' तक, मोलियर के सभी हास्य-नाटक, निकोलाई गोगल का 'इंसपेक्टर जनरल'—सभी **रंगमंच-नाटक किसी देश विशेष या भाषा-विशेष के नाटक नहीं, समूचे विश्व के नाटक** हैं क्योंकि इनकी अपील सीमित नहीं, व्यापक है। इसी प्राकार भरत मुनि की नाट्य-परंपरा का ईमानदारी से निर्बाह करने वाले हमारे अनेक संस्कृत नाटक—कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम' से लेकर शूद्रक के 'मृच्छकटिकम' तक—पश्चिम में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। कुछ सप्ताह पहले, पूर्वी जर्मनी (जर्मन जनवादी गणतंत्र) के सैक्रेटरी फार कल्चर कुर्ट लोएफलर ने, जो एक सरकारी डेलीगेशन के साथ भारत आए हुए थे, अपनी प्रेस कांफ्रेंस में बताया कि उनके देश में 'अभिज्ञान शाकुंतलम' का सम्मोहन अभी तक बना हुआ है। उन्होंने यह भी बताया कि उनके देश के प्रसिद्ध कबि गेटे और हर्डर के साहित्य पर शाकुंतलम का गहरा प्रभाव था।

इसी प्रकार विश्वप्रसिद्ध जर्मन नाटककार बटोल्ट ब्रेख्त के लगभग सभी रंग-नाटक 'मदर करेज एंड हर चिल्ड्रन', 'द थ्री पैनी आपेरा' (तीन टके का स्वांग), 'द काकेशियन चाक सर्कल' (खड़िया का घेरा) 'द लाइफ आफ गेलेलियो', 'मिस्टर पुंटीला एंड हिज मैन माटी' (चोपड़ा कमाल, नौकर जमाल), 'द एक्सेप्शन एंड द रूल 'आर्तरुई' और 'द गुड वूमन आफ सेजुआन संसार के सभी प्रमुख देशों में अनुदित होकर खेले जा चुके हैं। नाटक के पात्र, घटनाएं, आवेग और संवेदनाएं इतनी जानी-पहचानी, सर्वव्यापक तथा विश्वजनीन हैं कि किसी भी देश के

दर्शक को ब्रेख्त के नाटक देखकर यह अनुभूति नहीं होती कि वह कोई विदेशी नाटक देख रहा है। हबीब तनवीर द्वारा किया गया ब्रेख्त के नाटक 'द गुड वूमन आफ सेजुआन' का छतीसगढ़ी बोली में किया गया रूपांतर 'साजापुर की शांतिबाई !' इस कथन की पुष्टि करती है कि **नाटक किसी एक देश या किसी एक भाषा की सम्पत्ति नहीं होता,** समूचे विश्व का होता है। ईर्ष्या, द्वेष, लालच, जीवन में नेक और भला रहने के लिए संघर्ष, बुरे काम करने के लिए विवश होने पर भी व्यक्ति का मन से बुरा न होना, व्यक्ति और समूह का यह प्रयास कि संसार को बल दिया जाए और उसके बदले संसार में रहा जाए, या व्यक्ति और समूह का यह निश्चय कि 'नहीं, भलाई-बुराई मिश्रित इसी संसार में संयत भाव से, निर्लिप्त भाव से रहने की कोशिश की जाए और देखा जाए कि इस प्रयास में व्यक्ति या समूह को कितनी सफलता मिलती है ?—यानी जो कुछ भी 'द गुड वूमन आफ सेजुआन' में ब्रेख्त ने कहा है कि वह इतना सार्वभौमिक और विश्वनीन है कि उस नाटक का छतीसगढ़ी रूपांतर 'साजापुर की शांतिबाई' देखते समय किसी भी दर्शक को यह आभास नही हुआ कि यह कहानी भारतीय गांव साजापुर की नहीं, चीन के सेजुआन गांव की है, और नाटक की नायिका शांतिबाई भारतीय नहीं, चीन की मैडम शेनते है। **देशकाल इतिहास, भूगोल, जाति, भाषा के बंधनों को लांघकर समूचे विश्व के देशों को एकसूत्र में जोड़ने वाली चीज नाटक ही है** और इसी कारण यह बात यहां फिर दोहराई-तिहराई जा रही है कि हम पाश्चात्य नाटक और पूर्वीय नाटक के बीच की इस दीवार को गिराने का प्रयास करें और केवल एक ही शब्दावली का प्रयोग करें—**'विश्व नाटक !'**

यहां तक तो बात हुई कथ्य की; जहां तक नाटक के शिल्प का संबंध है; वहां अभी भी पाश्चात्य और पूर्वी नाटकों की प्रस्तुतिकरण शैली में हमें थोड़ा अंतर दीख पड़ता है। विदेश में रंगमंच के अधिक विकसित होने के कारण वहां के नाटककारों और नाट्य-निर्देशकों ने नाटकों को प्रस्तुत करने की शैली में अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किये हैं। हैरल्ड क्लरमैन, चैरील क्राफर्ड, एलिया कजान, जोशुआ लोगान और माइक निकोलस आदि अनेक अमरीकन रंगमंच-निर्देशकों मे उल्लेखनीय प्रयोग किये हैं और उनके प्रयोगों की नवीनता तथा ताजगी ने, उनके द्वारा निर्देशित नाटकों को एक नया अर्थ, नया आयाम प्रदान किया है। किंतु भारत के रंगमंच-निर्देशक भी, जहां तक प्रतिभा का संबंध है, विश्व के किसी भी देश के रंग-निर्देशक से पीछे नहीं रहे हैं। एक लंबी परंपरा की कड़ी बीच में टूट गई थी; किंतु हर्ष और आशा की बात यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात इन तीस वर्षों में नये रंग-धर्मियों—नाटककारों, अभिनेताओं, मंच-सज्जाकारों, प्रकाश व्यवस्थापकों और निर्देशकों—की इतनी लंबी शृंखला तैयार हो गई कि उनके नाम गिनाने में ही पृष्ठ पूरा हो जायेगा। तिस पर भी शंभु मित्र, उत्पलदत्त, पु०ल० देशपांडे, जव्वार पटेल, गिरीश करनाड, व०व० करंथ, डा० शिवराम कारंथ, आद्य रंगाचार्य, चंद्रवदन मेहता, ई० अल्काजी, एम०के० रैना, बंसी कौल, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, ओम शिवपुरी, मोहन महर्षि और हबीब तनबीर के नाम लेने इसलिए आवश्यक हो जाते हैं कि भारतीय नाट्य-परंपरा को जीवित रखने और उसे दिनों-दिन उन्नत और समृद्ध बनाने में इन रंगधर्मियों को जो योगदान है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। इन लोगों ने पुरातन और आधुनिक, पूर्वी और पश्चिमी, लोकशैली तथा नागरिकशैली, सीधी सपाट कथावाचक पद्धति और प्रयोगात्मक पद्धति—सभी का बहुत ही कलात्मक तथा वैज्ञानिक सम्मिश्रण कर भारतीय रंगमंच परंपरा को बहुत ऊपर उठाया है और भारतीय रंगमंच-नाटक को विश्व-मंच पर उसका सही और सम्मानपूर्ण स्थान दिलवाया है।

यही कारण है कि अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हुए भी आज का भारतीय नाटक, विश्वव्यापी रंगमंच से जुड़ कर अंतरराष्ट्रीय मंच की बिरादरी का अविभाज्य हिस्सा बन गया हैं; और यह इसलिए संभव हो सका है क्योंकि—जैसा कि रूमानिया के रादू बैलिगन ने अपने 1977 के वर्ल्ड थियेटर डे' के संदेश में कहा था—'थियेटर व्यक्ति का सत्य से आमना-सामना कराता है; उसके आदि और अंत की छानबीन करता है; उसकी दुर्बलताएं उसके सामने उजागर करता है और उसे अपने कृत्यों की जिम्मेदारी उठाना सिखाता है। इसतरह थियेटर एक समानता का भाव पैदा करता है। व्यक्तियों, जातियों और राष्ट्रों के जीवन के चारों ओर नाटकों के महीन रेशमी जाले बुनकर उन्हें एक ताने-बाने में समोता है और जताता है कि भौगोलिक दृष्टि से अलग होने पर भी वे एक ही प्रकार की प्रवंचनाओं, विडंबनाओं और आशाओं के मध्य जी रहे हैं।

●

# समकालीन हिंदी रंगकर्म :



बंबई के बड़े फिल्म-व्यवसाय ने अब, अर्थशास्त्र के सामान्य नियमों के अनुसार, पारसी रंगमंच के अपेक्षाकृत छोटे व्यवसाय को समाप्त कर दिया, तो एक लंबे अंतराल के बाद—1960 के आसपास—हिंदी रंगमंच के व्यवसाय के 'बाजार' से हटकर कला की 'हाट' में अपना ठीया जमाने की कोशिश की।

**आसान रास्ता :** लेकिन हिंदी के इस नए रंग-आंदोलन के मूल में ही कुछ महत्वपूर्ण अंतर्विरोध थे, जिनका फल बहुत जल्दी ही हमारे सामने आ गया। एक तो इस हिंदी नाट्य-आंदोलन की शुरुआत ही हिंदी प्रदेशों से हटकर दिल्ली कलकत्ता और बंबई जैसे महानगरों से हुई; दूसरे, अपनी जड़ों से जीवनी शक्ति ग्रहण कर फलने-फूलने के संघर्षमय रास्ते को छोड़कर हमने विदेशी नाटक और रंगकर्म से समृद्ध एवं आधुनिक बनने का 'शार्टकट' अपना लिया। अपनी रंग-परंपरा से जुड़े भी तो महज शौक या फैशन के स्तर पर ही। तीसरे, इस आंदोलन को प्रतिष्ठित करने में चूंकि रंग-समीक्षक और उच्च-भूमध्य वर्गीय बौद्धिक दर्शक ने निर्णायक भूमिका निभाई थी, इसलिए हमारा नाटक और रंगमंच जन-सामान्य और उसकी बुनियादी समस्याओं के जुड़ने के बजाय मध्यवर्गीय काम-कुंठाओं और उसकी नैतिक शारीरिक मानसिक समस्याओं तक ही केंद्रित होता चला गया। अन्य भाषाओं से भी लगभग इसी भावभूमि के नाटकों के अनुवाद और प्रस्तुतीकरण हमारे रंगमंच पर छाते चले गए। इसके अतिरिक्त, निदेशक के एकाधिकार ने भी हिंदी रंगकर्म को लगातार कलावाद और प्रयोगवादी जटिल एवं दुरूह अभिव्यक्ति क्षेत्र में भटकेलने में काफी मदद की। 1970 के आसपास हमारे रंगमंच पर 'आधे-अधूरे', 'द्रोपदी', 'करफ्यू', 'देवयानी का कहना है', 'पगला घोड़ा', 'हयवदन', स्टील-फ्रेम, 'गिद्ध', सखाराम बाइंडर', 'किसी एक फूल का नाम लो' वगैरह का एकाधिकार था। इन्हीं दिनों, संभवत: 6 मई 1972 को 'आईफैक्स' में 'अभियान' के तत्वावधान

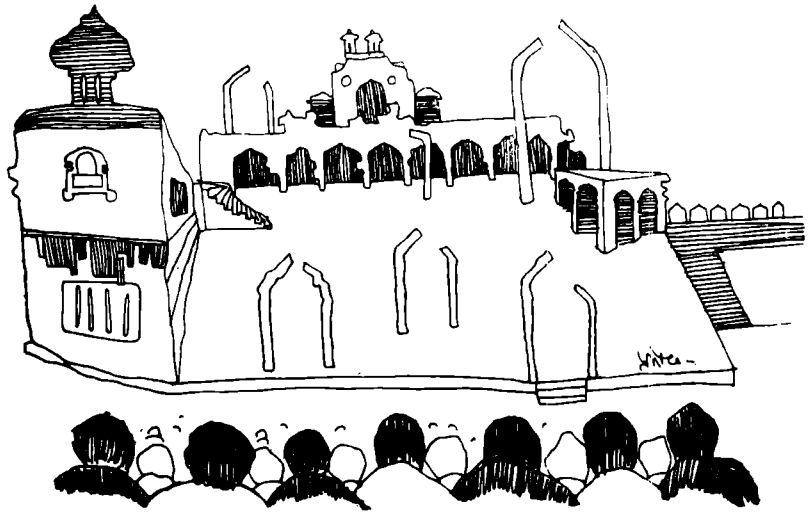
# समस्या और समाधान

जयदेव तनेजा

में राजिंदर नाथ ने मोहित चटर्जी के बंगला नाटक का हिंदी अनुवाद 'गिनीपिग' प्रस्तुत किया। कुलभूषण खरबंदा, चेतना तिवारी तथा कीमती आनंद जैसे कलाकार उसमें अभिनय कर रहे थे। एक बहुत ही उत्तेजक, सार्थक और प्रासंगिक नाटक था वह। स्वयं निर्देशक राजिंदरनाथ का कहना है: "ऐसे नाटक बहुत कम होते हैं जिनके हो जाने के बाद एक गहरी संतुष्टी का अनुभव हो। 'गिनीपिग' मेरे लिए उन बहुत कम नाटकों में से एक है"। और इसके साथ ही "एक स्मृति, जो इस नाटक के प्रस्तुतीकरण के साथ जुड़ी हुई है, वह है लगभग खाली प्रेक्षागृह।" मुझे अच्छी तरह याद है—दोनों दिन के प्रदर्शनों में मुश्किल से पचास दर्शक भी नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि 'अभियान' और राजिंदरनाथ ने 'घासीराम कोतवाल' जैसे लोकप्रिय और तथाकथित सफल संगीत नाटकों का राजपथ अपना लिया।

**एक फायदा :**—निःसंदेह इस दौर का एक बड़ा फायदा हमें यह तो हुआ ही कि बहुत कम समय में हमारा रंगमंच तकनीकी दृष्टि से काफी समृद्ध हो गया और विश्व-भर के वैविध्यपूर्ण नाटकों ने हमारे अनुभव-क्षितिज का पर्याप्त विस्तार भी किया। इस दृष्टि से अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद—राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और अन्य प्रतिभा-संपन्न निर्देशकों का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रशिक्षण प्राप्त रंगकर्मी अपने-अपने क्षेत्रों में गए जहां उन्होंने रंगकर्म की ज्योति जलाई।

इसी समय पूना फिल्म इंस्टीच्यूट से निकले प्रतिभावान एवं उत्साही कलाकारों के सहयोग से 'समानांतर सिनेमा' का श्रीगणेश हुआ और कम बजट की 'कला-फिल्में' बनने लगीं। हिंदी रंगांदोलन की तरह यह फिल्म-आंदोलन भी विदेश



की 'न्यू वेव' से प्रभावित होने के कारण अपनी जड़ों से कटा हुआ था। अपने-आपमें भले ही 'उसकी रोटी', 'असाढ़ का एक दिन', 'दुविधा' 'बदनाम बस्ती', 'माया दर्पण' जैसी फिल्मों की कोई उपलब्धि अथवा सफलता न रही हो, किंतु इन्होंने बंबइया फिल्मों के ढर्रे को अवश्य हिला दिया और कला एवं व्यवसाय का नया सफल फार्मूला निकालने वाले एक नए वर्ग को जन्म दिया। 'रजनीगंधा' से आरंभ होकर 'अंकुर' और 'घरौंदा' तक के दौर ने हिंदी रंगमंच को दोहरा धक्का पहुंचाया। एक ओर तो उसने रंगमंच के अधिकांश प्रतिष्ठित अथवा प्रतिभा संपन्न रंगकर्मियों को अपने नाम-दाम और ग्लैमर के सम्मोहन से अपनी ओर खींच लिया, दूसरी ओर नाटक के मुट्ठी-भर दर्शकों को भी यहां का नहीं रहने दिया। दूरदर्शन के विस्तार ने रही-सही कसर भी पूरी कर दी। सार्थक और प्रतिबद्ध रंगमंच के नाम पर 'इप्टा' ने एक समय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, परंतु धीरे-धीरे वह भी अपनी धुरी से हटकर अन्य नाट्य-संस्थाओं के प्रचलित रंगकर्म का शिकार होता चला गया और अपने मूल रूप को खोकर लगभग समाप्त हो गया। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से गरीबी, अन्याय, शोषण, अत्याचार, सांप्रदायिकता और धर्म एवं जाति-भेद के निरंतर बढ़ते हुए ज्वार ने आम आदमी को अधिक सजग एवं जागरूक बनाया है और उसे आपस में लड़वाकर अपना स्वार्थ साधने वाली ताकतों को उनके असली रूप में उन्हें पहचानने की ताकत दी है।

जिस तरह हर थीसिस के भीतर से उसका एन्टीथीसिस स्वयं ही उद्भूत होता है, ठीक उसी प्रकार बदली हुई परिस्थितियों ने जन-सामान्य और उसको बुनियादी समस्याओं से कटे सौंदर्य-बोध, और भव्य दृश्य-बंध महंगे प्रेक्षागृहों वाले बड़े नाटकों से हटकर नाटक को गली, नुक्कड़ और चौराहे पर आम आदमी के एकदम बीच में ला खड़ा किया।

**मूल तर्क की तलाश :** रंगमंच को सिनेमा की मारक प्रतियोगिता से बचाने और उसे आम आदमी के जीवन की विडंबना एवं त्रासदी का प्रामाणिक एवं प्रभावपूर्ण माध्यम बनाने के प्रयत्न में रंगमंच के मूल तर्क की तलाश शुरू हुई और यह महसूस किया गया कि जहां तक यथार्थ का भ्रम पैदा करने का सवाल

है, तड़क-भड़क से भरे नाच-गानों की बात है या वैज्ञानिक उपकरणों के उपयोग और तकनीकी कौशल का प्रश्न है—रंगमंच सिनेमा का मुक़ाबला कर ही नहीं सकता। रंगमंच की एकमात्र मौलिक और अपराजेय शक्ति है—जिआयामी अभिनेता और अपने दर्शक को सीधे सबोधित कर उससे सार्थक संवाद कर सकने की सामर्थ्य। इसी बिंदु से हमारे यहां नए, समांतर, कम खर्च, गरीब, सार्थक, मनोशारीरिक या तीसरे रंगमंच के तलाश की शुरुआत हुई। यह शुरुआत हमारी वर्तमान परिस्थितियों की देन है और यह चाहे रिचर्ड रोजनर और प्रोतोवस्की के प्रभाव से हुई हो, चाहे बादल सरकार की प्रेरणा से, मगर प्रदर्शन-पद्धति और अभिनय-शैली के स्तर से यह एक महत्वपूर्ण मोड़ है।

**शिल्प, कथ्य और लोकप्रियता :** यदि आप पिछले पांच-सात वर्षों के हिंदी रंगमंच की ओर ध्यान दें, तो आपको लगेगा कि यह मोड़ सिर्फ शिल्पगत ही न होकर, कथ्य और लोकप्रितता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। साहित्य की अन्य विधाओं में नव-प्रगतिवाद के उदय के साथ-साथ हिंदी नाट्य-लेखन के स्वर-तेवर और मुहावरे में भी एक उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। भारतेंदु हरिश्चंद्र की 'अंधेरी नगरी' के बहुत दिनों बाद तक हमारे पास ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' के अतिरिक्त अन्य कोई भी उल्लेखनीय राजनीतिक व्यंग्य-नाटक उपलब्ध नहीं रहा। और इसे महज संयोग नहीं कहा जा सकता कि पिछले पांच-सात वर्षों के सर्वाधिक चर्चित और मंचित नाटक वास्तव में सामाजिक-राजनीतिक संबद्धता या प्रतिबद्धता के नाटक ही रहे हैं। सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है', मणि मधुकर का 'रस गंधर्व', बृज मोहन शाह का 'त्रिशंकु' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', बादल सरकार का 'जुलूस' तथा शरद जोशी का 'एक था गधा उर्फ अलादाद खां' देश-भर के रंगकर्मियों के सर्वाधिक प्रिय नाटक रहे हैं। पिछले दिनों प्रकाशित होने वाले नाटकों में सर्वेश्वर का 'लड़ाई', मणि मधुकर के 'खेला पोलमपुर', लक्ष्मीकांत वर्मा का 'रोशनी एक नहीं है', सत्यव्रत सिंहा का 'अमृत पुत्र', मुद्राराक्षस का 'पोर्स फ्रेथपुली', शरद जोशी के 'दो व्यंग्य नाटक,' सुशील कुमार सिंह के 'नागपाश' तथा 'गुडवाई स्वामी' नरेंद्र कोहली का 'शंबूक की हत्या,' हमीदुल्ला का 'उलझी आकृतियां', लक्ष्मी नारायन लाल के 'यज्ञ-प्रश्न', 'सवरंग मोह भंग', 'गंगामाटी', 'पंच पुरुष' तथा 'राम की लड़ाई, दया-प्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की,' विपिन अग्रवाल के 'खोए हुए आदमी की खोज', जयवंत दलबी का 'सूर्यास्त', विजय तेंदुलकर के 'जात ही पूछो साधु की', तथा 'दंभद्वीप', कुसुम कुमार का 'सुनो शैफाली,' विनय का 'पहला विद्रोह', उत्पत दत्त का 'टीन की तलवार' तथा बादल सरकार के 'आदि विद्रोही स्पार्टाकस' और 'मोमा' लगभग सभी उल्लेखनीय नाटक इसी कोटि के हैं।

पुस्तक रूप में अप्रकाशित होने के बावजूद मंच पर प्रदर्शित होकर ही चर्चित हो जाने वाले नाटकों में रमेश उपाध्याय के 'पेपरवेट' तथा 'भारत भाग्य विधाता', मुद्राराक्षस द्वारा रूपांतरित 'आला अफसर', असगर वजाहत 'जान बुल' तथा 'इन्ना की आवाज', रामेश्वर प्रेम का 'राजा नंगा है, ना०ग० बोडस का 'टीन-टप्पर', गोविंद देशपांडे का 'उद्धवस्थ धर्मशाला', अरुण मुखर्जी का 'मारीच संवाद', 'पहले-पहल' में प्रदर्शित लगभग सभी नाटक और चतुथ राष्ट्रीय नाट्य समारोह में प्रदर्शित प्रदर्षित अधिकांश प्रस्तुतियां भी हमारे समकालीन रंगकर्म के इस महत्वपूर्ण परिवर्तन को गहराई से रेखांकित करती हैं। इनके अतिरिक्त, शेक्सपियर, इब्सन, शॉ और बैकेट जैसे यथार्थ वादी तथा एब्सर्ड नाटककारों के स्थान पर भारतीय रंगमंच पर ब्रेख्त का लगातार बढ़ता हुआ प्रभाव और प्रभुत्व भी हमारे रंग-मंच के भविष्य का स्पष्ट दिशा संकेत दे रहा है।

कथा-साहित्य और काव्य के क्षेत्र से मंच पर अवतरित होने वाली रचनाओं में प्रेमचंद के 'गोदान' पर आधारित 'होरी', भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा,' हरिशंकर परसाई के 'रानी नागफनी की कहानी' पर आधारित 'लंगड़ी टांग', चाणक्य सेन का 'मुख्य-मंत्री', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी', महाश्वेता देवी का 'हजार चौरासी की मां', काशीनाथ सिंह का 'अपना मोर्चा', जैसे उपन्यास तथा मुक्तिबोध की 'अंधेरे में', साहिर की 'परछाइयां', धूमिल की 'मोचीराय', भारती की, 'मुनादी' एवं सर्वेश्वर की 'कुआनो नदी' जैसी लंबी कविताओं के मंचन हमारे आज के रंगकर्म के मूल स्वर का ही रेखांकन करते हैं।

**"इरादों की शामें"** : जनता के सपनों को, उसके दुख-दर्द को उसी की भाषा में उस तक पहुंचाने के लिए प्रतिश्रुत हर शहर में नए-नए नाट्य दल बन रहे हैं। अभी पिछले दिनों बंबई



'इप्टा' से टूटकर कुछ प्रगतिशील रंग-कर्मियों ने 'अधामी रंगमंच' की स्थापना की है, जिसके विषय में संस्था के प्रधान कमलेश्वर का कथन है कि "आवाम तक हमें पहुंचने में चाहे जितना वक्त लगे, पर हम एक पल के लिए भी अपने आवाम के सपनों और इच्छाओं से दूर नहीं जाएंगे—हम शामें नहीं गुजारेंगे—बल्कि थकी सुबहों, तपती दोपहरियों और अंधेरी रातों को बदलने के लिए किसी नाटक, किसी गीत, किसी नृत्य, किसी बहस के जरिए हर शाम को इरादों की शाम बनाएंगे और अंजाम तक पहुंचने के लिए लगातार चलते रहेंगे।"

इसी प्रकार, चंडीगढ़ में 'जनवादी रंगमंच' का गठन किया गया है। दिल्ली में प्रयोग ने 'जुलूस' के सौ प्रदर्शन किए, तो जन-नाट्य मंच ने 'मशीन' 'औरत', 'हत्यारे', 'डी० टी० सी० की धांधली', 'तीन करोड', 'चुनाव', 'पुलिस चरित्रम्' तथा 'समरथ को नहिं दोष गुलाई' जैसे छोटे-छोटे नुक्कड़ नाटकों के सवा तीन सौ प्रदर्शन कर लिए हैं। दिल्ली के अतिरिक्त इन्होंने सोनीपत, फरीदाबाद हिसार, भिवानी, देहराडून, मसूरी, इलाहाबाद, पटना, बंबई, श्रीगंगानगर तथा मथुरा में भी अपने प्रदर्शन किए हैं और इनका विश्वास है कि इनके नाटकों को अब तक लगभग साढ़े चार लाख लोग देख चुके हैं। 'बकरी' के भी तीन सौ से अधिक प्रदर्शन हो चुके हैं। कुल मिलाकर, वर्तमान रंग-परिदृश्य काफी उत्साह-वर्द्धक हैं। ऐसा लगता है जैसे हम सही इरादे से सही रास्ते पर हैं और बहुत जल्दी ही अपनी मंजिल को पा लेंगे।

## अंतर्विरोध

परंतु गहराई में जाकर गंभीरता और सूक्ष्मता से यदि हम अपने समसायिक रंगकर्म का अध्ययन करें तो पाएंगे कि वस्तुस्थिति ठीक वही और वैसी ही नहीं है जैसी कि हमें ऊपर से अपने अति-उत्साह में दिखाई दे रही है। उसके भीतर ढेरों अंतर्विरोध हैं, कमजोरियां हैं, उलझनें और समस्याएं हैं। अपने समय की



चुनौतियों का सही उत्तर दिए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते।

**नारेबाजी :** सबसे पहली बात तो यह है कि हतारा तथाकथित राजनैतिक अथवा प्रमिबद्ध रंगमंच प्रायः नारेबाजी के सपाट स्तर तक उतर आता है और गिने-चुने संयोजनों, गति-विधानों और मुद्राओं-भंगिमाओं एवं भाषणों के कारण बहुत जल्दी ही कल्पनाविहीन पुनरावृत्ति का शिकार हो जाता है। यह प्रदर्शन रचनात्मकता के अभाव में अपने दर्शकों को सघन एवं उत्तेजक नाट्यानुभव देने के स्थान पर प्रायः एक कुतूहल अथवा क्षणिक आवेश भर देकर ही समाप्त हो जाते हैं। हमारे अधिकांश राजनीतिक-सामाजिक व्यंग्य नाटकों में प्रायः गहरी समझ, सूक्ष्म विश्लेषण तथा अंतर्दृष्टि का अथवा उसे समग्रता से संप्रेषित करने वाली कला का अभाव होता है। यही कारण है कि ये नाटक 'यथातथ्य समाचारपत्र धर्मी यथार्थ' के स्तर से आगे नहीं बढ़ पाते। घोषित रूप से मार्क्सवादी लेनिनवादी रंगकर्मी के बारे में उत्पल दत्त का यह विचार पूर्णतः सही है कि "कला समाचारपत्र नहीं है, जिससे सिर्फ सूचना दी जाती हो, न ही कला कोई भाषण है। कला पार्टी की नीति, सूखे समाचार और वैचारिक वाद-विवाद से अलग है। रंगमंच का काम आज की वास्तविकता को कलात्मक तरीके से प्रस्तुत करना है, साथ ही भविष्य की ओर इंगित करके यह भी बताना है कि वास्तविकता कैसी होनी चाहिए।"

**नुक्कड़-नाटक :** नुक्कड़ अथवा सड़क नाटक का एक विशिष्ट लचीला फार्म और शिल्प-विधान होता है। इसके चौतरफा संयोजनों और तीव्र गतियों में त्वरा तथा मुद्राओं में स्वच्छंदता होती है, गीतों में उष्मा और दो-टूक भाषा में बोले गए संवादों में सहज आक्रामकता एवं ऊर्जा। रूप एवं वस्त्र-सज्जा लगभग नहीं के बराबर, कोई मंच (प्रेक्षागृह) कोई दृश्य-बंध नहीं। आडंबर और ताम-झाम से एकदम मुक्त। आम आदमी की जिंदगी की दैनिक समस्याओं और तकलीफों का जीवंत प्रस्तुतिकरण ही इस नाटक में दर्शकों की सक्रिय भागीदारी को उत्साहित एवं प्रेरित करता है। अतः स्पष्ट है कि हर कोई नाटक सड़क पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। पिछले दिनों हुए कई नुक्कड़ नाटकों की असफलता का प्रमुख कारण यही था। इस संदर्भ में 1964 में न्यूयार्क के 'मोबाइल थियेटर' द्वारा सड़क पर प्रदर्शित 'हेमलेट' के ईंट-पत्थर की बौछार से हुए स्वागत को हमेशा याद रखना चाहिए। उसके निर्दे-

शक जोसेफ पैप ने स्पष्टतः स्वीकार किया था कि वहां शेक्सपियर का नाटक खेलना गलत था। अब राजनीतिक परिस्थितियों में भारी परिवर्तन हो चुका है। अतः जनता को 'हैमलेट' की नहीं, उनके अपने जीवन से संबद्ध नाटक की जरूरत है। निःसंदेह आज की परिस्थियों में ब्रेख्त हमारे लिए सबसे ज्यादा प्रासंगिक और सार्थक नाटककार है। परन्तु जर्मनों और भारत के आम आदमी के मनोविज्ञान और भाव-तंत्र को समझे बिना हम उसका भी अपने लिए सही प्रयोग नहीं कर सकते। ब्रेख्त अपने दर्शक की समझ और बुद्धि को झकझोरना चाहता है जब कि भारत का व्यक्ति सोचने का काम भी हृदय से लेता है। अतः बुद्धि के बजाय मन को उद्वेग्रित करने वाली रचना ही उसे अधिक प्रभावित करती है। भारतीय आम आदमी के लीला-प्रिय मन को समझे बिना हम उसे बहुत दूर तक प्रभावित नहीं कर सकते। हां, सार्थकता और मनोरंजन तथा कलात्मकता और व्यावसायिकता के सही समीकरण की शिक्षा हमें अवश्य ही ब्रेख्त से ले लेनी चाहिए। यदि सीधे जुड़ना कठिन प्रतीत होता हो, तो उसी के माध्यम से हम अपनी समृद्ध लोक रंग-परंपरा को भी पहचानने और स्वीकारने में मदद ले सकते हैं।

**फिल्म की प्रतियोगिता :** आज के रंगकर्म की दूसरी प्रमुख समस्या है—फिल्म की प्रतियोगिता से रंगमंच को बनाए-चलाए रखने की। मराठी, बंगला या कन्नड़ भाषाओं में यह समस्गा इतनी बड़ी नहीं है जितनी कि हिंदी में। व्यावसायिक रंगमंच के कारण वहां कलाकार के लिए रंगमंच छोड़ना कोई मजबूरी नहीं है। यह फिल्म और रंगमंच, दोनों से निवाह कर लेता है, जबकि हिंदी में देर-सवेर प्रत्येक रंगकर्मी के सामने यह समस्या आती ही है कि या तो वह रेडियो, दूरदर्शन अथवा सिनेमा में अपनी जगह बनाए या फिर रोटी के लिए कोई भी दफ्तरी नौकरी स्वीकार कर ले और व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक परिस्थितियां अनुमति दें, तो कभी-कभार अपना यह शौक भी पूरा करता रहे। हिंदी रंगमंच में प्रोफेशनल ऐटीट्यूड या दृष्टिकोण की कमी का यह एक बुनियादी कारण है। व्यावसायिक रंगमंच के अभाव में फिल्म द्वारा रंगमंच का यह शोषण इसी प्रकार चलता रहेगा। यह अलग बात है कि व्यावसायिक रंगमंच के अपने अलग खतरे, दायरे और बंधन हैं। उसका अर्थ-तंत्र दूसरी किस्म की समस्याएं और दिक्कतें पैदा करता है। मेरे विचार से जब तक हम अपने रंगकर्मियों को उसकी कला का पूरा 'दाम' देने की स्थिति में नहीं आ जाते, इस समस्या का अस्थायी समाधान यह हो सकता है कि हम उसे कम-से-कम 'नाम' तो दें। इस संदर्भ में बड़े सर्कुलेशन की रंगीन व्यावसायिक पत्रिकाओं की एक महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, परतु वह भी फिल्मों से बुरी तरह आक्रांत होने के कारण अथवा अपने अन्य संकीर्ण स्वार्थों की वजह से ऐसा नहीं कर रही हैं। देश-भर में संगीत नाटक अकादेमियां फैली हुई हैं : उनमें से कई एक की नाट्य पत्रिकाएं भी हैं। बड़े-बड़े बजट, मोटी-मोटी तनख्वाहें और भारी-भरकम नामों के बावजूद ढंग से और नियमित रूप से क्या एक भी पत्रिका निकल रही है? व्यावसायिक पत्रिकाओं में फिल्म, सिलाई-कढ़ाई और नए पकवानों के तो रंगीन पृष्ठ प्रत्येक अंक में सुरक्षित रहेंगे, परंतु रंगमंच की बड़ी-से-बड़ी घटना भी उनके लिए बेमतलब हो जाएगी।

इस समय हमें रंगकर्मियों और दर्शकों के बीच सेतु का काम करने वाले नाट्य-पत्रकारों और नियमित निकलने वाली सही नाट्य-पत्रिकाओं की सख्त जरूरत है। रंगकर्म को लोकप्रिय बनाने और उसे विकसित करने के लिए अति गंभीर, ऐकेडिमिक, शोध-परक एवं मूल्वांकनवादी रंगसमीक्षा के बजाय हमें सुनियोजित ढंग से फिल्म-पत्रकारिता की तरह नाट्य-पत्रकारिता की ओर बढ़ना चाहिए। प्रस्तुति-समीक्षा के साथ-साथ रंगकर्म और रंगकर्मियों से संबंधित दिस्तृत और रोचक जानकारी हमें अपने पाठकों/दर्शकों तक पहुंचानी चाहिए।

सस्ते प्रेक्षागृहों और पूर्वाभ्यास-स्थलों की कमी आज के रंगकर्मियों की एक व्यावहारिक समस्या है।

**मौलिक नाटक :** सही, सार्थक, प्रासंगिक और प्रभावशाली नाटकों की कमी हमारे आज के रंगकर्म की एक अन्य महत्वपूर्ण समस्या है। इसके लिए जहां एक ओर हिंदी के नए मौलिक नाटकों का मंचन किया जाना जरूरी है (भले ही वह कितने भी कमजोर क्यों न हों), वहां दूसरी ओर प्रतिष्ठित कथाकारों और कवियों को भी रंगमंच से जुड़कर इस क्षेत्र में स्वयं को आजमाना चाहिए। स्थानीय नाटककारों की खोज भी निहायत जरूरी है। इससे आज के हिंदी रंगमंच पर लगी अनुवादों की भीड़ से भी हमें कुछ मुक्ति मिलेगी और नई-नई प्रतिमाओं से हमारा रंगकर्म उन्नत और समृद्ध होगा।

आधुनिक रंगमंच पर निर्देशक के महत्व और मूल्य के विषय में किसी को भी संदेह नहीं है। परंतु अब उसका यही एकाधिकार एक समस्या की शक्ल अख्तियार करता जा रहा है। रंगकर्मियों का आपसी संबंध क्षेतिज न होकर अवधिर बनता जा रहा है। आज का हिंदी रंगमंच वास्तव में निर्देशक का ही रंगमंच होकर रह गया है। वह केवल अपनी रुचि-अरुचि या व्यक्तिगत हानि-लाभ के आधार पर ही नाटक करता है। उसे प्रायः अन्य सहयोगियों के विचारों, जनरुचि अथवा व्यापक सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों से कोई सरोकार नहीं होता। उसका प्रमुख उद्देश्य रंग-समीक्षक को प्रभावित कर अखबारी वाहवाही लूटना-भर होता है। इस दृष्टि से हमारे रंगकर्म का अभिनेता और उससे भी आगे बढ़कर दर्शक की रुचियों, अपेक्षाओं और जरूरतों से परिचालित न होना एक बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण समस्या है। परंतु असल बात यह है कि हमें अटूट विश्वास के साथ इन समस्याओं से जूझना है और नए रास्ते खोजने हैं। ●





# समकालीन रंगमंच : एक पड़ताल

समकालीन रंगमंच पर कोई बात की जाए, उसके पहले यह आवश्यक है कि इससे रंगमंच की पूर्व स्थिति की पड़ताल की जाए। अपने समय से थोड़ा पीछे देखें तो हम पाएंगे कि हिंदी रंगमंच एक तरह की निष्क्रियता का शिकार था। नाटकों के इक्के-दुक्के प्रदर्शन होते थे। वह भी स्कूल, क्लब या ऐसी संस्थाओं द्वारा जो केवल मनोरंजन के तहत उपजती थीं। इन संस्थाओं ने रंगकर्म को कभी गंभीरता से नहीं लिया और न ही नाटक के तकनीकी पक्ष को समृद्ध किया। यह संस्थाएं रंगकर्म को मात्र मनोरंजन का साधन भर समझती रहीं। किंतु अपने संकट काल में हिंदी रंगमंच और उसके दर्शकों को जिंदा रखने का सबसे बड़ा श्रेय इन्हीं संस्थाओं को है। इन संस्थाओं के अलावा जिन रंग-संस्थाओं ने रंगकर्म को गंभीरता से लिया वे केवल बड़े-बड़े नगरों और महानगरों में हिंदीतर भाषाओं के नाट्य प्रदर्शन में व्यस्त रहीं।

सन् 70-71 के आसपास इस स्थिति में बदलाव आया। छोटे-बड़े नगरों में अनेकानेक व्यावसायिक-अव्यावसायिक दोनों तरह की रंग-संस्थाएं संगठित होने के साथ सक्रिय हो उठीं। देखते-देखते नाट्य प्रदर्शनों की भीड़ लग गई। इतने ज्यादा नाट्य प्रदर्शनों के बीच दर्शक के सामने चुनाव की समस्या पैदा हो गई। इसके पहले नाट्य प्रेमियों के सम्मुख किसी प्रदर्शन को लेकर चुनाव की समस्या पैदा हुई हो, मुझे याद नहीं पड़ता।

ताज्जुब कि साहित्य की जो विधा अभी तक उपेक्षित पड़ी थी वह साहित्य की प्रमुख विधा बन गई। भारतेंदु युग के बाद साहित्य के इतिहास में शायद ही कभी रंगनंच को लेकर रंग-कर्मियों ने इतनी जबर्दस्त सक्रियता दिखाई हो। किंतु नाट्य प्रदर्शनों की तादाद को देखते हुए इस समय दर्शकों की संख्या काफी न्यून थी।

इधर रंगमंच को लेकर कुछ सवाल भी उठ खड़े हुए हैं। उनसे कतराकर निकल जाना शायद मुमकिन नहीं।

क्या कारण है कि हिंदी के मौलिक नाटकों का प्रदर्शन उतनी तेजी से नहीं हो रहा है जितनी तेजी से अपेक्षा की जाती थी? क्या हिंदी का कोई अपना रंगमंच बन सका है? हिंदी नाटकों का क्या ऐसा कोई निश्चित दर्शक-समूह है जिसके बल पर नाट्य प्रदर्शन हो सकें? वह कौन-सी वजह है कि इतनी अवधि के बाद आज भी हिंदी रंगमंच बड़े-बड़े प्रेक्षाग्रहों और सरकारी संस्थानों के अनुबंधन का मोहताज बना है? इतने अधिक नाट्य प्रयोगों के बाद भी क्या रंगमंच लोकजीवन से जुड़ सका है? ये कुछ सवाल हैं जो अक्सर परेशान करते हैं।

यह दुखद बात है कि हिंदी के मौलिक नाटकों का प्रदर्शन जिस गति से होना चाहिए था उस गति से नहीं हो रहा है। इसका कारण हिंदी नाट्यालेखन का नाट्य-प्रदर्शन के अनुपात में पिछड़ जाना है। इसके अलावा हिंदी में जो नाटक हैं भी वे मंचीय कम पठनीय ही अधिक हैं।

यह देख लगता है हिंदी के नाटककार का रंगमंच से जैसे कोई संबंध न हो या फिर नाटक और साहित्य की अन्य विधाओं में उसके लिए कोई फर्क ही न हो। हालांकि पिछले कुछ वर्षों

**विनय दास**





में प्रकाशित नाटकों ने इस मिथ को बहुत दूर तक तोड़ा है। किंतु कमोबेश यह स्थिति अब भी बरकरार है।

हिंदी में आज भी ऐसे नाटकों की भारी कमी है जिनका कथ्य नाटकीय संभावनाओं से चुस्त और नाट्य निर्देशकों के लिए आज भी चुनौती बना हो। अपवाद के रूप में यहां दूधनाथ सिंह के **घोआस**, आलोक शर्मा के **चेहरों का जंगल** तथा मुद्रा-राक्षस के **तेंदुआ** के नाम गिनाए जा सकते हैं। लेकिन ऐसा कहना इकतरफा सच होगा। इसके विपरीत जिन नाटकों में नाटकीय संभावनाएं निहित थीं उन्हें पिछले वर्षों में खेला भी खूब गया है। लक्ष्मीनारायन लाल, सुरेन्द्र वर्मा के नाटक इसके उदाहरण कहे जा सकते हैं। किंतु इनकी सृजनात्मकता अब जैसे चुक गई है। वर्षों से इनकी रचनात्मकता का कोई नया स्वरूप प्रकाश में नही आया। इसका उत्तम साक्ष्य रंगकर्मियों द्वारा इनके बसियाते नाटकों को निरन्तर प्रस्तुत करते रहना है। इसकी तह में एक कारण और भी हो सकता है—छोटी संस्थाओं को अच्छे और नए नाट्यालेखों को प्रस्तुत करने की अनुमति न मिल पाना। हिंदी में मंचीय रंग आलेखों का अकाल हो ऐसा नहीं किंतु दरिद्रता जरूर है। यह दरिद्रता नाट्यालेखों का नहीं बल्कि नाट्य निर्देशकों का हिंदी नाटकों को बिना गहरे खंगोले झाग से ही सन्तुष्ट होते रहने का परिणाम है।

पिछले कई वर्षों से नये रचनाकारों का झुकाव नाट्यालेखन की ओर लगातार बढ़ रहा है। शायद नाटक इनके लिए काफी आसान विधा बन गई है। किंतु नाटक की साहित्य की अन्य विधाओं से रचनात्मक भिन्नता और उसके बुनियादी सरोकार को समझे बिना संभवतः कोई सफल नाटक नहीं लिखा जा सकता। हिंदी का अधिकांश रंगलेखन आज भी ऐसे तबके के रचनाकारों द्वारा हो रहा है जिनका रंगमंच से संबंध होने की बात तो दूर उनका मंच से भी कभी कोई रिश्ता ही नहीं रहा है। फलतः नए रचनाकारों के जो नाटक आ रहे हैं उनकी मंच पर सफलता भी संदिग्ध है।

इस बीच अनूदित नाटकों को मंच पर लाने के काफी प्रयास हुए हैं। इस कार्य में हमारे नाट्य निर्देशकों ने पर्याप्त सफलता भी हासिल की है। अनूदित नाटकों का मंचन क्या हिंदी रंगमंच के लिए हितकर होगा?

कहा जा सकता है कि अन्य भाषाओं से अनूदित नाटकों को प्रस्तुत करने से दर्शक वर्ग की सोच व समझ को विकसित होने का मौका मिला है। उसे दूसरी भाषाओं की नाट्यकला का परिचय मिलने के साथ दूसरे भाषा-भाषी नाटकों व वहां के लोगों के सोच को जानने का अवसर मिला है। किंतु नाट्यानुवादों का मंचन कालांतर में हिंदी रंगमंच पर कुछ इस तरह 'हावी' होता गया है कि नाटक का आम दर्शक हिंदी के नाटककारों को भूलता गया और दूसरी भाषाओं के नाटककारों से अधिक परिचित होता गया। मसलन बादल सरकार, ब्रेख्त, विजय तेंदुलकर आदि।

इसका मुख्य कारण नाट्य निर्देशकों का नाट्यानुवादों के प्रति अतिरिक्त मोह व दुराग्रह है। इस दुराग्रह से एक खतरा और उभरा है—हिंदी रंगमंच का निरन्तर रंग-आलेखों के लिए दूसरे भाषा-भाषी नाटकों पर निर्भर होते जाना। कहीं यह परनिर्भरता हिंदी के रंगकर्मी को रंग-आलेखों के लिए भविष्य में लंगड़ा न कर दे या हिंदी रंगमंच की पहचान को धुंधला न कर दे।

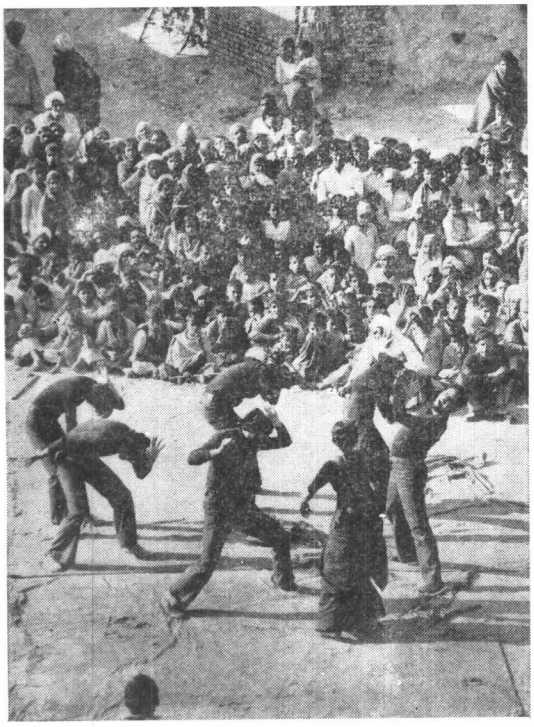
पिछले वर्षों में रंगमंच की सीमाओं का काफी विस्तार भी हुआ है और नाटकेतर विधाओं के मंचन ने कुछ इस तरह जोर पकड़ा कि साहित्य की अन्य विधाएं भी शनैः शनैः इसी कला में अपना समाहार करती गई हैं। परिणामस्वरूप कविता, कहानी और उपन्यास से भी नाट्य रूपांतरण प्रस्तुत हुए। उनके सफल मचन भी हुए। यह सुखप्रद है। इससे जहां रंगमंच और अन्य अन्तर्संसम्बन्धता स्पष्ट हुई वहीं रगमच को एक नयी गति भी मिली। उसकी गुणवत्ता में वृद्धि हुई। इनके मंचन को लेकर इधर कुछ सवाल भी उठे किंतु उन पर यहां विचार करना संभव नहीं। फिर कभी।

रंगमचीय गतिविधियों का एक लम्बा दशक बीतने के साथ मैं सोचता हू क्या हम कोई नाट्य-प्रदर्शन दर्शकों के भरोसे कर सकते हैं? उत्तर शायद नकारात्मक ही होगा।

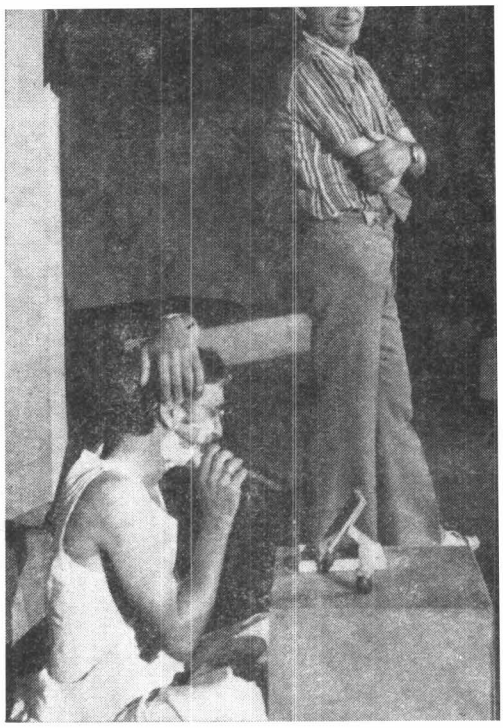
किंतु यह सच है कि नाटकों का एक ऐसा दर्शक वर्ग है जो लगभग हर अच्छे नाटक को टिकट लेकर देखता है। ऐसे दर्शकों की संख्या दिनानुदिन बढ़ रही है। यह दर्शक वर्ग और कोई नहीं, ढर्रेवादी फिल्मों से ऊबा बुद्धिजीवी है। इनकी संख्या ही कितनी है, हम सब जानते हैं। किंतु एक नाट्य प्रदर्शन पर जितनी लागत बैठती है उसे देखते हुए दर्शकों की यह संख्या कम ही कही जापेगी। यदि इस बात पर विश्वास न बैठे तो 'कथायात्रा' में प्रकाशित कलकत्ता की सुप्रसिद्ध नाट्य संस्था 'अनामिका' के आर्थिक घाटे को देखा जा सकता है। यही नहीं, यदि दिल्ली, बम्बई, लखनऊ जैसे महानगरों की नाट्य संस्थाओं से इस विषय में जानकारी एकत्रित की जाए तो काफी दिलचस्प नतीजे मिल सकते हैं।

समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा मध्यवर्ग है किंतु हमारा रंगकर्मी उसे इस ओर अभी पूरी तरह आकर्षित नहीं कर पाया है। न ही उसमें नाटक देखने की आदत पैदा कर सका है। भविष्य में रंगमंच आर्थिक रूप से परमुखापेक्षी न रहे इसके लिए रंगकर्मियों को समाज के इस बड़े हिस्से मध्यवर्ग को नाटक से जोड़ना होगा।

हिंदी रंगमंच आज इस स्थिति में है जहां पास देकर दर्शकों में उत्पन्न की गई 'पैरासाईटी' वृत्ति पर कब्जि पाना होगा। तभी हिंदी रंगमंच जो आर्थिक हानियां उठा रहा है उनसे बच सकता है। पूर्वाभ्यास से लेकर प्रदर्शन तक मात्र चाय, नाश्ते पर पिसते रंगकर्मी को तभी अच्छा भुगतान भी किया जा सकता है। ऐसा



**प्रत्येक कला में, प्रयोग संभावनाओं के नए क्षितिज तलाश करता है ; उसे नया अर्थ-विस्तार देने का प्रयत्न करता है। नाटक के अधिकतर प्रयोग लोक-जीवन से जुड़ने की इच्छा का फल है। लेकिन क्या विभिन्न प्रयोग नाटक को रंगमंच से जोड़ सके ?**



होने के साथ जहां रंगकर्मी अपने रोल में जान फूंक सकता है वहीं नाट्य प्रस्तुति के समय अच्छे-से-अच्छा कलाकार भी आसानी से मिल सकता है। कला हमेशा संरक्षण मांगती है। हमारा इतिहास आज भी इस बात का गवाह है।

इस बीच साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा सबसे अधिक प्रयोग नाटक को लेकर हुए। यह प्रयोग नाट्यालेखों में तो हुए ही, साथ ही नाट्य प्रस्तुति के सन्दर्भ में भी हुए। इस दरम्यान नाट्यालेखों में भी काफी प्रयोग हुए। लेकिन क्या इन नाट्य प्रयोगों का कोई औचित्य है ?

प्रत्येक कला में प्रयोग संभावनाओं के नये क्षितिज तलाश करता है। उस कला को नया अर्थ विस्तार या आयाम देने का प्रयत्न करता है। नाटक के अधिकतर प्रयोग लोक जीवन से जुड़ने की इच्छा का फल है। नौटंकी शैली का इजाफा, नाटक की जड़ों को जन-जीवन में गहरे रोपने की एक सार्थक कोशिश कही जा सकती है। **आला अफसर, लैला मजनूं** की सफलता इस सिलसिले में प्रशंसनीय है।

तो क्या ये विभिन्न प्रयोग नाटक को लोक जीवन से जोड़ सकेंगे ? शायद नहीं।

क्या मात्र नौटंकी, लोक नाट्य आदि कलाओं को लोक जीवन में गहरी धंसी मानकर प्रयोग करते रहने से कोई नाटक-लोक जीवन से जुड़ सकता है—कम-से-कम मुझे ऐसा नहीं लगता। इसके लिए हिंदी रंगमंच और रंगकर्मियों को जनजीवन के बीच घुसपैठ करनी होगी। उसे शहर के सुविधापरस्त 'आदिटोरियम का मोह तोड़ना होगा। अपने मंच का विकास व निर्माण उन स्थानीय सीमाओं को ध्यान में रखकर करना होगा। साथ ही स्थानीय लोगो का सहयोग उसे लेना होगा जिससे उन सबकी दिलचस्पी बराबर प्रदर्शन में बनी रहे। वे इसे अपना समझ सकें।

कई बार मुझे लगता है इसका बहुत बड़ा कारण हिंदी रंगमंच का प्रारंभ में दर्शकों की ओर ध्यान न देना है। दूसरे जनरूचि से जुड़े रंग आलेखों का अभाव। किंतु प्रयोग के नाम पर नाटकों की दुर्गति भी कम नहीं हुई है। इधर कई ऐसे भी प्रयोग देखने को मिले हैं जो काफी हास्यास्पद हैं। राजेश्वर बच्चन द्वारा निर्देशित 'गिद्ध' (लखनऊ) नाटक इसका अच्छा उदाहरण हो सकता है जिसमें प्रयोग के नाम पर फूहड़ नाच, गाने और सस्ती बम्बइया फिल्मों के कुछ चलाऊ नुस्खों को फिट किया गया था। हालांकि 'गिद्ध' कां आलेख उम्दा है। संभवतः यह प्रयोग का खतरनाक पक्ष है। रामेश्वर प्रेम के नाटकों ने इधर रंगमंच को एक सर्वथा अछूती जमीन दी है। नाट्य प्रस्तुति के अनुपात में उसकी गुणवत्ता में इधर अरसे से कोई वृद्धि नहीं हुई है। उसमें एक तरह का ठहराव पैदा हो गया है।

सवाल हिंदी के रंगनिर्देशक का सरकारी या गैर सरकारी संस्थाओं के अनुबंधन का मोहताज बने रहना है, आखिर क्यों ? हिंदी का रंग निर्देशक किसी तरह का खतरा मोल नही लेना चाहता और न ही प्रेक्षागृहों की रंग-बिरंगी दुनिया का मायावी जाल काट खुले मैदान की ओर जाना चाहता है। इसके मूल में रंग-निर्देशकों का नाट्य प्रस्तुति की सफलता को लेकर हीनता ग्रन्थि का या अपनी क्षमताओं के प्रति शंका का होना है। जिस कला की जड़ें ठेठ शहर, या उसके एक विशेष वर्ग में हों वहां उसकी यह शंका स्वाभाविक भी लगती है।

हिंदी का हर निर्देशक आज अपनी अधिकतम सुविधाओं के मोह में फंसा हैं। इसे हिंदी के प्रति 'समर्पित' न होने का नतीजा कहा जा सकता है। भारतेन्दु के समय जैसा त्याग और समर्पण आखिर इनमें कहां ? तो क्या हिंदी में व्यावसायिक रंगमंच है ? पूरी तरह संभवतः वह भी नहीं। अन्यथा कोई

(शेष पृष्ठ 32 पर)




# सांग

राजेंद्रकुमार शर्मा



"क्यूं रे ओ भांड की अवलाद, ज्यो कईं छे श्शाला ?" शराब के नशे में धुत्त ठाकुर सेडूसिंग ने हिचकी लेकर पूछा, तो प्रेमू भांड ने मुंह से 'दुर्र-दुर्र-दुल-दुल' की आवाज निकालते हुए, अभिवादन में सिर झुकाकर, हाथ जोड़ दिए।

सेडूसिंग ने बोतल से थोड़ी-सी शराब गटककर, इस बार जरा गुस्से से कहा, "रे ज्या कईं हींजड़ा-नामरद-खसुआ की नाईं कमर मटका-दोराकर, हाथ-पांव जोड़ रियो छे तू, बता न, ज्यो छे कई ?"

प्रेमू ने सेडूसिंग के पैरों के पास बैठते हुए, उनके पांव छूकर बताया, "माराज, 'सांग' छे न।"

"सांग ?" सेडूसिंग ने पुनः हिचकी लेकर, जोर से हँसते हुए कहा, "सांग तो मूनै वी दीख रियो छे रे भांड का पोदणा, पण ज्या तो बता, के ज्या सांग छे क्यां को, कुणसा जिनावर को ?"

"माराज, शेर-बघेरा को सांग छे न।" बोला प्रेमू और मुंह से बार-बार शेर की दहाड़ निकालने का प्रयत्न करने लगा। आसपास खड़े बच्चे, जवान, बूढ़ों ने समवेत-स्वर में 'शेर-बघेरो—शेर-बघेरो' कहकर, इधर-उधर भागने लगे। तमाशबीनों की इस हलचल से प्रेमू का उत्साह और बढ़ गया, और तभी वह जोश-खरोश से फुदकने लगा, दहाड़ने लगा। सेडूसिंग की 'कोठड़ी' के सामने अच्छा-खासा मजमा जम गया। कोटड़ी की खिड़कियों के 'पल्ले' खुलने लगे, पर्दे सरकने-उठने लगे और घूंघट में छुपे चेहरों की आंखें भी सांग का मजा लेने लगीं।

प्रेमू की इस हरकत से सेडूसिंग भी ठहाका लगाकर हँसता हुआ, शराब के घूंट-दर-घूंट गले के नीचे उतारने लगा। सेडूसिंह की खुशी के कारण प्रेमू का उत्साह-दर-उत्साह बढ़ता ही गया और हांफता हुआ भी, उछल-कूद में जुटा ही रहा। उसका मन कह रहा था कि जरूर आज उसका काम बन जाएगा। सेडूसिंग सात दिन से उसके 'नकलची खेल', 'सांग' देख रहे हैं, लेकिन इतने खुश पहले कभी नहीं हुए। दिल्ली चले जाने के बाद ये बहुत ही कम गांव आ पाते हैं। इस बार आए, तो उसने मौका देखकर 'औरत', 'भील', 'लंगूर', 'पोस्टमैन', 'सिपाही' आदि का सांग भर-भरकर दिखाया उनको, लेकिन···? वैसे अब उसका भी मन अपने पुरखों की भांति 'सांग भरने', 'नक्लची बनने' का नहीं करता है, ताकत ही कहां है बूढ़े शरीर में ? पर मजबूरी-वश···। सेडूसिंह के पुरखे तो किसी-किसी सांग या नकल पर जमीन-जायदाद, गांव तक इनाम में दे देते थे, लेकिन अब सेडूसिंग से ऐसी तो आशा नहीं है, पर उसकी बेटी रतनी का बंदोबस्त होने, उसकी नैया पार लगाने का भरोसा तो है ही।

"रे ओ नकलची की अवलाद।" सेडूसिंग ने आंखें तरेरकर पूछा, "तूने ज्या शेर-बघेरा को सांग भर्यो छे ?"

प्रेमू ने पुनः 'दुर्र-दुर्र-दुल-दुल' की आवाज निकालकर कहा, "आं माराज।"

"श्शाला, न कदि तूने शेर-बघेरा देख्यो वी छे ?"

प्रेमू जमीन ताकने लगा।

"असल मां तो तू मूनै तो कूकरो दीख रियो छे—शेर-बघेरो तो कोन्या।" व्यंग्य से बोला सेडूसिंग, "दस्त लग जांग्या—दस्त, न कदि शेर-बघेरो दिखेग्यो तो! सांग तो भरे छा तेरा बाप-दादाओन—वा, के बात छी—के?"

"माराज बात ज्या छेके···?" बोला प्रेमू, तो बात काटकर बोला सेडूसिंग, "सुण रे ओ भांड, नकलची की अवलाद—रजपूतां न ज्या रांड, भील लंगूर, बांदरा,भालू, कूकरा सो सांग चोखो कोन्या लागे—आं।"

"तो फेर माराज?"

"तू म्हाने असली 'घायल' को सांग भर के बता—आं।" गर्व से कहा सेडूसिंग ने, "रजपूत जद कदि रण मैदान का लड़बान जाय छे, तरवार, भाला सूं बिंध-बिंध के, कट-कट के, दारू पी तो हुंओ, 'धमाल' गातो-सुणतो-सुणातो···।"

"समजग्यो माराज—समजग्यो।" प्रेमू ने स्वीकृति में सिर हिलाते हुए कहा तो सेडूसिंग हिचकियां लेता हुआ, उसको युद्ध, तलवार, हाथी, घोड़े आदि की बातें बताने लगा। तमाशबीनों का हुजूम इस चर्चा से 'बोर' होकर, धीरे-धीरे बिखरने लगा। प्रेमू ने देखा कि आसपास कोई नहीं है, तो वह सेडूसिंग के कतई नजदीक चला गया—घिसटता हुआ। सेडूसिंग ने दया करके बोतल उसकी तरफ झुका दी। वह चुल्लू में शराब लेकर, सुड़कता हुआ बोला भी, "घायल को सांग तो में थाने असली ही दिखा दयूंगो माराज, पण···।"

"खून की जगा लाल रंग मति चुपड़िया जे, नी तो श्शाला की खाल मा भुस्स भरवा दयूंगो—भुस्स।"

"माराज, एक बिनती है।" सेडूसिंग की बकवास को अन-सुना करते हुए बोला प्रेमू, "थे कुच ऊं म्हारी छोरी रतनी को तो बंदोबस्त कर दयो, नी तो ज्या बुढ़ापा मा मूनै कुओ-बेरो ताकणो पड़ेगो—आं।"

"रतनी—कुण रतनी रे पिरेम्या?" सेडूसिंग ने नशे में बंद आंखों को कुछ चौड़ाते हुए पूछा, "छे के कोई चोखो माल?"

सेडूसिंग के इस कथन पर प्रेमू को इतना गुस्सा आया कि बोतल छीनकर उसके सिर पर दे मारे, लेकिन ऐसा संभव जो नहीं था न। वह नम्रता से ही बोला, "माराज, थे म्हारी छोरी रतनी न नी जाणो, ज्यो थारे साथ···?"

इस बार सेडूसिंग की लाल-लाल आंखों में वासना की आंधी कौंधने लगी। शायद उसको सहसा ही रतनी का रूप, रंग, जवानी, अग-प्रत्यंग स्मरण हो आए थे। झटके से कहा उसने, "अरे आं पिरेम्या याद आग्गी तेरो छोरी रतनी—वा, के छोरी पईदा करी छे तेरी लुगाई न—चांद का टुकड़ा-सी। ऊं रात तो तेरी छोरी रतनी न सुरगई दिखा दियो मूनै—वा। तेरी एक छोटी छोरी और छे न पिरेम्या?"

"आं माराज—दूली।" खिसियाकर बोला प्रेमू, "रतनी अर दूली दोनी ई ब्या जोग छें माराज, पण पेल्या तो रतनी को मामलो···।"

"के हुयो रे म्हारी रतनी जान न।" सेडूसिंग ने जरा रोमांटिक अंदाज में पूछा, "कईं मामलो फंसग्गो म्हारा चांद का टुकड़ा को?"

"माराज।" भरे गले से बोला प्रेमू, "जीं रात माराज रतनी थारी ईं कोटड़ी में थारे साथ···। न जाणे के गिड़बड़ होग्गी के- के माराज रतनी को पांव भारी होग्गो।" और आंसू पोंछने लगा।

प्रेमू की इस बात पर सेडूसिंग ठहाका लगाकर हँस दिया। फिर मूछों पर ताव देकर बोला भी, "रे ओ श्याला भांड, कंगला नकलची की अवलाद—तू के औरा न बी अपणी तरेई हिजड़ो, नामरद, खसुओ समजे छे-ऊं? अरे पोदणा—रतनी रात बसे मुज जईसा मरद के पास सोयग्गी तो ऊंको पांव भारी नी होग्गो तो के तेरी लुगाई को होग्गो?"

"पण माराज रतनी को ब्या जलदी नी हुवो तो मामलो बिगड़ जाग्यो नी।"

"कईं मामलो बिगड़ जाग्यो—सुणू तो?"

"थारी बिदनामी हो ज्यागी न, थे दिल्ली मां···।"

"क्यूं भला।" सेडूसिंग ने बात काटकर कहा, "के रतनी की छात्यां मालै म्हारी मोहर लाग्गी छे? होग्गो दूसरा को पाप। ज्यो छोरी पईसा के वासते म्हारे सात सो सके, वा दूसरा के पास बी तो···।" और बेशर्मी से हँस दिया।

"नी माराज।" तड़प कर कहा प्रेमू ने, "ज्या अईसी ओछी बात तो नी बोलो थे इत्ता बड़ा मूं सूं।"

सेडूसिंग ने घृणा से कहा, "तू बी ईं छोटा भाख्या सूं बड़ी बात नी काढ़-आं। श्शाला, भौत बकवाद करेगो नी तो तेरी जुबान कढ़वा ल्यूंगा--जुबान। हरामखोर, तेरी तो धंधो ई छे ज्या के छोर्‌यां न छोर्‌यां सूं निबटा रियो छे। तेरी बड़ी छोरी संती बिदमास थी—ऊंका ब्या का बंदोबसत वासते तू म्हारे पास अपनी छोरी गुणवंती न ल्याओ। गुणवंती का ब्या के वासते चमेली न ल्याओ। चमेली का वासते सोभा न। सोभा के वासते रतनी न और···! बोल श्शाला ल्याओ के कोन्या?"

प्रेमू शर्मवश जमीन में गड़-सा गया, क्योंकि सेडूसिंग का कथन शत-प्रतिशत सही था। छह-छह बेटियां और काम-धंधा कुछ नहीं, वह आखिर करता तो क्या? और तभी वह एक बेटी से मुक्त होने के लिए दूसरी को सेडूसिंग के हवाले करता गया—छीः।

"माराज।" प्रेमू ने धीरे से कहा, "मुज जईसो मिनख और करतो बी के?',

"ऊं।" रहस्य से मुस्कराकर कहा सेडूसिंग ने, "अब आयो न रस्ता मालै। जा रतनी का ब्या को बंदोबसत हो जाग्गो। पण-पण-पण कल तू मूनै असली 'घायल' को सांग दिखा, खुस होग्गो तो समज ले 'पौ बारा पच्चीस', नी तो···! आं सात मां तू दूली न जरूर ल्याजे—समज्यो?"

प्रेमू कुछ भी नहीं बोला तो सेडूसिंग ने बीस का नोट उसकी तरफ बढ़ाकर कहा, "ले मौज-मजा कर, जा।"

प्रेमू एकदम नहीं उठ सका।

□ □ □



गांव भर में आग की मानिंद खबर फैल गई कि आज प्रेमू भांड 'घायल' को सांग भरेगो। गांव के कई बुजुर्ग प्रेमू भांड के पुरखों द्वारा भरा गया—दिखाया गया 'घायल का सांग' देख चुके थे, अतः वे अन्य अनजान लोगों को नमक-मिर्च के साथ 'घायल के सांग' के बारे में बता रहे थे और इस बारे में प्रेमू भांड के खानदान की प्रशंसा भी कर रहे थे। 'घायल' संबंधी बातों से जवानों का खून गर्म हो रहा था और बच्चे उत्साहित थे।

दोपहर ढली। बच्चे, जवान, बूढ़े प्रेमू के टूटे-फूटे घर के आसपास जमा होने लगे। बूढ़ी, जवान, औरतें, बेटी-बहुएं भी झुंड बनाकर वहां और उस रास्ते पर खड़ी थीं, जो प्रेमू भांड के घर से 'कोटड़ी' तक जाता था।

कई आंखें उत्सुकता से प्रेमू भाँड के घर के बंद दरवाजे पर टिकी थीं कि कब दरवाजा खुले और कब 'घायल का सांग' देखने को मिले।

दरवाजा खुला। प्रेमू की औरत अनमनी-सी बाहर निकली। उसके शरीर पर साधारण कपड़े थे। हाथ में थाली थी, जिसमें 'मूंग-मोती' और 'आरती' की सामग्री थी। उसके बाद घर में से निकली रतनी और दूली। रतनी के हाथ में चमचमाता भाला था और दूली के हाथ में नंगी चमचमाती तलवार। रतनी-दूली का सौंदर्य जहां लोगो की आंखे चुंधिया रहा था, वहीं उनके हाथ में युद्ध के हथियार देखकर, उनको अपने सामने साक्षात 'रणचंडी' का अहसास भी हो रहा था।

प्रेमू भांड का खानदान सांग भरने में जितना उस्ताद था, उनकी औरतें, लड़कियां, बहुएं आदि भी इस बारे में किसी से पीछे नहीं थीं। एक पड़ोसिन भांड औरत तभी भीतर से निकली। उसके हाथ में भी एक थाली थी, जिसमें मेंहदी, आलता और सिंदूर था।

तमाशबीनों की भीड़ और नजदीक आ गई, तो उस औरत ने सिर झुका लिया। पलटकर वह प्रेमू की औरत से बोली भी, "राणीजी, हातां मा मेंदी लगवाल्यो, पांवां मा आलतो अर मांग मा सिन्नूर। जद सूं माराज रणवास मा नी आ रिया छें, थे भोत ई घणा उदास छो।"

बच्चों ने तालियां बजाकर हो-हल्ला किया, तो जवान-बूढ़ों ने डांट दिया, "चुप रो रे ओ सालाओन, 'घायल का सांग' का 'बोल' सुणबादयो।"

बच्चे सहमकर चुप हो गए। प्रेमू की औरत ने झटके से थाली रखते हुए भीड़ की तरफ हाथ जोड़ दिए। सहसा उसके चेहरे पर भाव-परिवर्तन होने लगे—पहले कोमलता, फिर क्रोध और फिर गंभीर-चिंतन-गत! गहरे सोच में डूबकर वह अभिनय करती हुई बोली—

"नाइन आज न मांड पग
काल सुणीजे जंग।
धरा लागी जे घणी
तो दीजे घण रंग।"

"वा।" एक बूढ़े ने उत्साह-आवेश से कहा, "के बात छे—के जोस छे राणी को के कल सूं जंग होणे वालो छे, जंग मा घरवालो मर जागो तो सत्ती होणे के बासते सोलह-सिणगार करते बखत घणा-घणा रंग—वा।'

वातावरण बहुत गंभीर हो गया। तभी एक पड़ोसी भांड 'रंगरेज' के भेष में वहां आया और उसने एक नई चुनरी प्रेमू की औरत की तरफ बढ़ाई, तो वह तड़पकर बोली—

"पिउ केसरिया पट किया हूं केसरिया चीर।
नाहक ल्यायो चूनड़ी बलती बेला बीर।"

एक जवान ने पास में खड़े वृद्ध से पूछा, "काका, राणीजी ज्याई के रई छे न ई 'रंगारू लीलगर' सूं के म्हारो घरवालो जंग का पीला केसर्‌या लत्ता पेना छे, अर में बी पीली-केसर्‌या लुगड़ी, तू भाया सत्ती होणे के बखत ज्या चूनड़ी क्यूं ल्यायो छे?"

"आं बेटा।" वृद्ध ने भरे गले से कहा, "देख यो रजपूतनी मा घरवाला का जंग मा मरबाको और सत्ती होणे को कित्तो चाव छे?"

"आं काका।"

"धन्न है रे राजसतान की रजपूतनी।" वृद्ध ने हाथ जोड़ते हुए कहा और आंखें पोंछने लगा। तभी वह जवान कुछ और पूछना चाहता था, लेकिन उसने उसको उधर देखने का इशारा किया जिधर प्रेमू की औरत थाली उठाकर कह रही थी—

"जो खल भग्गा तो सखी मोताहल सज थाल।
निज मग्गा तो नाहरे साथ न सूनो टाल।
सहणी सवरी हूं सखि दोउर उल्टी दाइ।
दूध लजाणो पूत सम वलय लजाणे नाइ।"

एक बहू ने घूंघट की ओट में से देखते हुए, उत्साह से कहा, "सासूजी सुण्या—घरवाला की जीत पर मोत्यां को थाल और ऊंका भाग के आबा माले सत्ती—वा। सासूजी, रजपूतणी दो बातां ई चावे छे।"

"कुण सी री?" सास चिढ़कर बोली तो उसने बताया, "जंग मा बेटो मां का दूध की और घरवाली सुहाग-कंगण की, लाज रखे।"

सहसा प्रेमू के घर में से क्षत-विक्षत आदमी निकला—खून से लथपथ! शरीर-चेहरे पर गहरे घाव-ही-घाव। छाती-पेट में

घुपे हुए छुरे। तार-तार युद्ध का पीला-केशरिया लिबास। बिखरे घुंघराले बाल। एक हाथ में शराब की बोतल और दूसरे में ढाल।

एक वृद्ध जोर से चिल्लाया, "घायल—ज्यो आग्यो रे घायल। वा रे पिरेम्या भांड—वा, तू तो थारा पुरखां सूं बी आग्गे निकलगो रे घायल का सांग मा तो। कुण माइ को लाल के सके के ज्यो पिरेम्यो भांड छे, ज्यो तो साकसात घायल छे, ज्यो जंग मा सूं·····।"

जवानों का खून खौलने लगा। बच्चे भी उमंगित थे। वृद्ध आवेश में और औरतें-लड़कियां सहमी-सहमी। प्रेमू ने शराब की बोतल पड़ोसी भांड को दे दी और ढाल अपनी औरत को। रतनी-दूली से भाला-तलवार झपटकर वह जोर से बोला, "जै भवानी, चालो रे।" और भीड़ को पानी की मानिंद चीरकर, रास्ते पर आ गया। उसके पीछे ऊसकी औरत, रतनी-दूली, पड़ोसिन-पड़ोसी चलने लगे और उनके पीछे भीड़।

'घायल' प्रेमू पर फूलों की बौछार हो रही थी। उसकी औरत और बेटियों की आंखों में खुशी के आंसू थे, लेकिन प्रेमू गहरे घावों की पीड़ा के कारण बुरी तरह चीखता-चिल्लाता जा रहा था, और साथ ही गटकता जा रहा था शराब के घूंट-दर-घूंट। लोगों को यह 'घायल का सांग' रोमांचित किए था। तभी प्रेमू की औरत ने जोर से कहा,

"सूरातन सूरां चढ़ै सत सतियां सम दोय।
आड़ी धारी ऊतरै गणे अनल नूं तोय।"

"सासूजी।" घूंघट की ओट में से बोली एक अन्य बहू, "राणीजी के केरई छे—बीर अर सत्ती दोन्या मालै तेज चढ़े छे, अर तबी बो तरबार की धार मालै चढ़े छे, अर सत्ती आग की चित्ता मालै।"

सास ने गुस्से से कहा, "तो तू बी बण न अईसी, क्यूं अपणा घरवाला न घाघरा मा लुकाती फिरे छे, भेज न फौज मा लड़बान ?"

बहू ने उत्साह से कहा, "में के बरज रई छूं, पण थारो पूत फौज मा लड़बान नी जाव तो में के करूं—ऊं ?"

"तो केह दे।" सास ने घृणा से कहा, "यो गहणो यो बेस अब कीजे धारण कंत - हूं जोगण किम कामरी चूड़ा खरच मिटंत।"

औरतें - लड़कियां इस बात पर हँसने लगीं, तो बहू ने भी चिढ़कर कहा, "सासूजी, थे अपणा पूत न टाबरपणा सूं ई ज्या सीख देता न ?"

"कुण सी ?"

"इला न देणी आपरी हालरिया दुलराय।
पूत सिखावे पालणे मरण बड़ाई माय।"

□□□

घायल के रूप में प्रेमू सेडूसिंग की कोटड़ी में पहुंचा, तो खिड़कियों के पल्ले-पर्दे खुलने-सरकने लगे। सेडूसिंग ने भी आज राजपूती लिबास पहन रखा था—सिर पर बड़ा साफा, गले में मोतियों की माला और हाथों में सोने के कडे। सामने ही शराब की बोतल रखी थी और खाने का सामान भी।

'घायल' प्रेमू लड़खड़ाता हुआ बीच में खड़ा था और उसको घेरकर खड़ी थीं—उसकी औरत, रतनी और दूली। वे बारी-बारी उत्साहवर्द्धक 'दोहे' बोल रही थीं और प्रेमू चीख-चिल्ला रहा था। सेडूसिंग 'घायल का सांग' देखकर इतना प्रभावित हो रहा था कि जैसे उसके सामने युद्ध में बुरी तरह घायल होकर आया योद्धा खड़ा है। और तभी वह खाना-पीना भूलकर बारंबार 'वाह-वाह' कर रहा था।

सहसा सेडूसिंग की निगाह दूली पर पड़ी तो वह हक्का-बक्का रह गया, क्योंकि ऐसा-इतना सौंदर्य शायद उसने इससे पूर्व एक जगह नहीं देखा था। वह सोच भी रहा था कि विधाता ने इस गरीब भांड को ऐसा खजाना कैसे-कहां से दे दिया ? हूं आज आएगा स्वर्ग का आनंद तो, जब वह रात में दूली के साथ···?

'घायल' प्रेमू घावों की पीड़ावश चीखता हुआ, वहीं जमीन पर ढेर हो गया : उसकी हाथ की तलवार और भाला जमीन पर छिटक पड़े। रतनी ने दौड़कर भाला उठा लिया, दूली ने तलवार और उसकी औरत उसको फिर से उठाने का प्रयत्न करने लगी।

प्रेमू की औरत सहसा चौंक पड़ी, क्योंकि उसके घरवाले के शरीर से बहने वाला खून, लाल रंग नहीं, वरन असली खून था—असली। उसने घबराकर घरवाले के मुंह पर हाथ लगाया और तत्क्षण ही बुरी तरह चीख पड़ी. "नी-नी, थे म्हाने छोड़कर नी जा सको भरतार।" और चूड़ियां फोड़ती-तोड़ती हुई, प्रेमू के शरीर पर ही ढेर हो गई।

तमाशबीनों ने सोचा कि यह शायद 'घायल के सांग' का ही नाटक हो रहा है, अतः वे जोर-शोर से 'वाह-वाह' करने लगे। लेकिन शायद रतनी-दूली असलियत जान चुकी थीं, अतः दौड़-कर मां-बाप तक आईं और झुक कर देख। - महसूस किया कि उनके मां-बाप मर चुके हैं। रोने-बिलखने की जगह वे हल्के से मुस्कराईं। और धीरे-धीरे उनके चेहरे क्रोधवश ऐसे लाल-सुर्ख हो गए, जैसे सारे शरीर का रक्त वहां एकत्रित हो गया है।

सहसा जोर से बोली रतनी, "माराज, देख्यो असली 'घायल को सांग' ?"

"देख्यो।" सेडूसिंग ने हिचकी लेकर, दूली को घूरते हुए कहा, "मजो आग्यो मजो। पण खास मजो तो तेरी भैण दूली···।"

"माराज।" व्यंग्य से बोली रतनी ही, "किलाकारां को तो धंधो ई ज्या छे के वो थारा जईसा बड़ा आदम्यां न मौज-मजा दें और दिल बेहलाता रहें। धन मा भौत जोर हो छे माराज—

भौत, पण अब जमानो बदलग्गो न।"

"बदलग्गो होगो जमानो रतनी जान, पण ठाकुर सेडूसिंग को जमानो नी बदल्यो—आं।" गर्व से बोला सेडूसिंग, "तबी तो दिल्ली मा बैठ्यो छूं—अपणी अक्कल सूं, सबनै बेकूफ बणा-कर—आं। तू तो देख चुकी म्हारो जलवो और थारी भैण दूली आज देख लेग्गी - क्यूं दूली जान ?"

भीड़ मजे लेने लगी। सभी समझ रहे थे कि नए जमाने में शायद 'घायल का सांग' में यह सब और जोड़ दिया गया है।

"माराज।" रकनी ही बोली, "थारो जमानो नी बदल्यो होग्गो, पण किलाकारां को जमानो तो बदलग्यो न।"

"तेरो मतबल के छे ?"

"मतबल।" भरे गले से बोली रतनी, "मतबल ज्यो माराज के असली 'घायल का सांग' मा म्हारो बाप मरग्यो—बाप और—मां होग्गी सत्ती—देखो, ज्या देखो।" और दौड़कर उसने मां-बाप की लाशों को चित कर दिया।

सेडूसिंग के होश फाख्ता हो गए। नशा एकदम काफूर हो गया। लेकिन तभी अकड़कर, हँसता हुआ बोला भी, "अईसा कीड़ा-मकौड़ा तो रोज ई मरता-खपता रहे छें रतनी जान, देस मा वईसे ही भौत जणसंख्या···।"

"चोप्प, ठाकर के बच्चे।" बात काटकर बोली दूली, "तूने ई मार्‌या छें म्हारा मां-बाप नू—आं। म्हारा मां-बाप इत्ता बड़ा किलाकार-किलाकारणी के···? किलाकारां की मजबूरी को फायदो उठाकर तूने वो किया छे, जो शात् शैतान बी नी करता रे—नी। थारा पुरखा म्हां जईसा किलाकारां न पाल्या-पोस्या, वा न ई तू गिण-गिण के खाग्यो—थू तेरी तो जिनगी मा ई रे।" और आंसू पोंछती हुई रतनी को घूरने लगी।

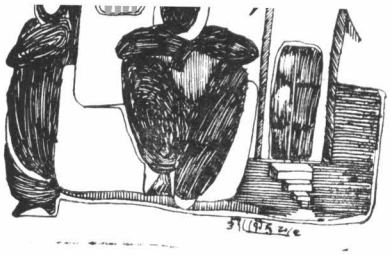
दोनों बहनों ने आंखों ही आंखों में तय कर लिया कि···?

रतनी ने सेडूसिंग के पास जाकर व्यंग्य से कहा, "ठाकर, 'घायल को सांग' तो होग्यो खतम, पण घायल की छोरियों को सांग अबी बाकी छे, ओ बी तो देख ले।" और पूरी ताकत से भाला सेडूसिंग के पेट में घुसेड़ दिया। दूली का तलवार वाला हाथ भी हवा में लहराया और सेडूसिंग का सिर जमीन पर आ गिरा।

तमाशबीनों में खलबली मच गई : दोनों बहनों का रणचंडी-सा रूप देखकर किसी की भी उनके पास जाने की हिम्मत नहीं हो रही थी। रतनी ने भरे गले से कहा, "म्हारी प्यारी दूल्लो भैण, जिनगी भर बेर-बेर मरबा सूं तो एक बेर मरबो ई चोखो छे, आ आखरी बेला गले···।"

दूली रतनी के गले लग गई।

सहसा झटके से दोनों बहनें अलग हुईं। दोनों के हाथ—भाला-तलवार सहित हवा में पुनः लहराए—भाला दूली के पेट में आर-पार निकल गया था और रतनी का सिर जमीन पर आ गिरा था, तथा प्रेमू भांड अपनी घरवाली के साथ नहा रहा था खून के सैलाब में। ●



# भीड़ और मैं

—जगजीत गगन

वे चाहते हैं
मैं भीड़ का एक अंग बन जाऊ
बेसमझ, बेअहसास !

भीड़ जिसमें हर व्यक्ति बौना है,
आधा है, अधूरा है,
पर सबने ओवरकोट
पूर्णता का पहन लिया है।

यहां तो काला है धूप का भी रंग
और मसीहा बनकर बैठा है हर कोई।
कितना आसान है मसीहा बनना—
बिना उठाए सलीब।
और कल्पना में किसी को
खाली हाथों की पिस्तौल से ठां-ठां करना।
या हवा में हस्ताक्षर उछालना
और बातें हाँकनी इंकलाब की ;

पर ओवरकोट पहनने का मैं आदी नहीं
चाह नहीं मुझे संपूर्णता की।
ठिठुरती भावनाओं को गले लगाना
मेरी नियति है।
और भीड़ का अंग बनकर रुकना तो
बीमार मानसिकता की निशानी है।

गलियों में जब आग के कदम बढ़ेंगे—
उस आग के हर अंगारे में,
मेरा ही रूप देखोगे—
मेरा ही रग देखोगे—
उस चलते लावे का मैं
अभिन्न अंग होऊं।
गलियों में जब आग के कदम बढ़ेंगे।

## अपने भक्तों से खिन्न होकर जल-समाधि लेने वाले

# बाबा दीन दरवेश

कांतिकुमार भट्ट

गुजरात में नरसिंह मेहता की प्रभातियां, मीरा के पद, शामल की कहानियां, ब्रह्मानंद के भजन, दयाराम की गरबियां तथा अखा के छप्पय जितने प्रसिद्ध थे; बाबा दीन दरवेश की कुंडलियां भी उतनी ही प्रसिद्ध थीं। गुजरात की शक्तिपीठों के ब्राह्मणों की भवाई में तथा तरगालाओं की भवाई में बाबादीन की वैराग की कुंडलियां गाई जाती थीं। तदुपरांत यहां के चार कवि राज-दरबारों में शिष्ट समाज के सामने ये कुंडलियां गाते थे। इस प्रकार गुजरात के जनसमाज में बाबादीन की कुंडलियों का प्रचार हुआ।

कहा गया है कि बाबादीन ने सवा लाख कुंडलियां लिखीं थीं। गौरीशंकर ओझा के पास बाबादीन की वाणी का जो संग्रह है, उसमें कुंडलियों का शतांश भी नहीं है। इस स्थिति में सवा लाख कुंडलियों के तथ्य को स्वीकार करने से विद्वान हिचकिचाते हैं। अन्य संतों की वाणी के संग्रहों में बाबा दीन की अनेक कुंडलियां मिलती हैं। बाबा दीन के समकालीन कवि कहान की वाणी में बाबा दीन द्वारा सवा लाख कुंडलियां लिखे जाने का उल्लेख है।

बाबा दीन ने ज्ञान वैराग या उपदेश की फुटकल कुंडलियां ही नहीं लिखी थीं, **आत्मकथा, भक्त बिरदावली** तथा **दरवेश गीता** ग्रंथ भी लिखे थे। उन्होंने वैष्णव-संप्रदाय के अनेक संस्कृत ग्रंथों की समश्लोकी कुंडलियां भी लिखी थीं। आश्चर्य इस बात का है कि हिंदी साहित्य में यह कवि इतना अज्ञात कैसे रह गया? आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने उसकी सूचना दी थी कि संत दीन दरवेश के जीवन की घटनाओं का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने दीनदयाल नामक एक कवि का उल्लेख किया है, किंतु उनका नाम दीनदयाल गिरि है, जो बाबा दीन दरवेश से भिन्न हैं।

बाबा दीनदरवेश का उल्लेख, हिंदी साहित्य में पहली बार मित्र बंधुओं ने किया था, जिसमें इनका कविताकाल सं० 1888 बताया गया था तथा इनकी लोहार जाति एवं बाल साधु के शिष्यत्व का उल्लेख किया गला था। इन्होंने हिंदी-गुजराती मिश्रित भाषा में कुछ स्फुट कविताएं लिखी थीं, जिनका विषय आध्यात्मिक था।

मिश्र बंधुओं ने एक अन्य दीन दरवेश का उल्लेख भी किया था, जो बुन्देलखंड का एक मुसलमान था। उनका कविताकाल सं 1875 था तथा उन्होंने भी स्फुट कुंडलियां लिखी थीं। वह मारवाड़ नरेश महाराजा मानसिंह के आश्रित थे। इन दोनों दीन दरवेशों के एक ही व्यक्ति होने की पूरी सम्भावना है, क्योंकि मिश्र-बंधुओं ने बाबादीन की पूर्वावस्था का परिचय दिया है, जब कि दूसरे कवि के रूप में जो परिचय है, वह बाबा दीन की अन्तिम अवस्था का है, जब यह बूंदी-कोटा गए थे। उन्होंने मेवाड़ में कैलासपुरी में जीवन के अन्तिम वर्ष बिताए थे। किसी मुस्लिम सांई के प्रभाव से इनका नाम तथा वेश मुसलमान सांई जैसा हो गया था। शायद इससे मिश्र बन्धुओं को यह भ्रम हुआ हो कि यह दूसरा दीन दरवेश है।

केशवजी विश्वनाथ त्रिवेदी ने अपनी पुस्तक **चरित्र चंद्रिका** में बाबादीन के विषय में विशेष परिचय देते हुए लिखा है कि वह आशु कवि थे। वह पाटण के निवासी थे और अपढ़ किंतु ज्ञानी थे। तेरह वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ था तथा बीस वर्ष की आयु होने पर उन्होंने गृहत्याग किया था। हर पूर्णिमा को वह सरस्वती-स्नान करते थे। उन्होंने काशी, प्रयाग, वृन्दावन तथा श्रीनाथजी की यात्राएं की थीं। उन्होंने सवा लाख कुंडलियों की रचना की थी। सिद्धपुर के मेले में कवि कहान के साथ इनकी काव्य-स्पर्धा हुई थी। तब पटडी के ठाकोर ने उन दोनों को पुरस्कार दिए थे।

ब्रजरत्नदास ने पाहण या पालनपुर को उनकी कर्मभूमि माना है और जन्मभूमि उदयपुर डिवीजन के रेलवे स्टेशन खेमली के निकट गुडवी गाँव बताई जहां वि० सं० 1810 में उनका जन्म हुआ था। ईस्ट इंडिया कंपनी में गोलाबारी में एक गोला लगने से उनको एक टांग कटवानी पड़ी थी। जब कंपनी ने उन्हें निकाल दिया, तब हताश होकर वह साधुओं के संग रहने लगे।

मोतीलाल मेनरियाजी ने बाबा दीन को उदक्पुर से 24 कि०मी० उत्तर में एकलिंगजी के मन्दिर वाले कैलासपुरी गांव के निवासी बतलाते हुए लिखा है कि वह अनपढ़ थे और उन्होंने सत्संग से ज्ञान-प्राप्त किया था। उनका गुरू बालनाथ बड़हर या गिरनार का निवासी था। उनकी कर्मभूमि काशी थी। अंत समय में यह कोटा गए थे और वहां वि० सं० 1890 मे चंबल में डूब गए थे।

ब्रजरत्नदास तथा मेनरियाजी के उल्लेखों का आधार लेकर भी आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने एक नई बात की ओर संकेत किया था कि इनका कोई-न-कोई सम्बन्ध गुजरात से रहा था।

सौराष्ट्र के बदरुद्दीन राणपुरी ने बाबादीन का जन्म समय वि० सं० 1863 में उत्तर गुजरात के डमोडा गांव में होने का उल्लेख किया है।

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने भी बाबादीन के पाहण निवास और अठारहवीं शताब्दी में होने का उल्लेख किया है। उनका मत था कि बाबादीन ने जीवन से निराश होकर मन की शांति के लिए निर्गुण भक्ति और सत्य की खोज की थी। उन्होंने पहले हिंदू तीर्थों की और बाद में मुस्लिम तीर्थों की यात्रा की।

बाबादीन के समकालीन संत कवि निर्मलदास तथा कवि कहान की वाणी में इनके विषय में उल्लेख मिलते हैं। बाबादीन ने अपनी भक्त बिरदावली में निर्मलदास (सं० 1822-1935) का चरित्र लिखा है। उसमें उनसे मिलन का उल्लेख भी है।

जीवन के अन्तिम बीस वर्ष बाबा दीन ने कैलासपुरी में बिताए थे। इसलिए मेनरियाजी को यह भ्रम हुआ होगा कि यही उनका जन्मस्थान भी था। ध्यानयोग के लिए बाबादीन बारह वर्ष गिरनार में रहे थे, अतः मित्र बंधुओं ने इनको सौराष्ट्र निवासी माना था। वह पालनपुर से हर पूर्णिमा को सरस्वती में स्नान करने पाहण जाया करते थे; इससे इनके पाटण के होने की सम्भावना भी हुई।

बाबादीन ने अपने जीवन के विषय में अनेक कुंडलियां लिखी थीं, इनमें से निम्नांकित कुंडली में उनके जन्म का वर्ष, स्थान तथा माता-पिता के नाम की स्पष्ट सूचना मिलती है, जिससे सारे भ्रमों का निरसन हो जाता है।

"दीन को जहां में भेजिया, कृपा किन्हीं जगतान।
सत्तरह सौ अड़सठ में, देश उत्तर गुजरात।
देश उत्तर गुजरात, उमोडा ग्राम बरबाना।
सोमाजी मम तात तुलजा मात परनाना।
कहत दीन दरवेश, आय के जाऊं कहां मैं।
खोज तेरा दीदार सांइयां यही जहां में॥"

इसके आधार पर स्पष्ट है कि यह उत्तर गुजरात के उमोडा के निवासी थे। उनके पिता का नाम सोमाजी तथा माता का नाम तुलना था। उनका जन्म सं० 1768 में हुआ था।

एक जनश्रुति है कि यह जाति से हिंदू थे, पर किसी मुस्लिम के घर पले थे। उसने उनसे अपनी पुत्री के साथ विवाह करने के लिए कहा। साथ में रहने के कारण वह उसको अपनी बहन समझते थे, इसलिए सब छोड़कर वह फकीर हो गए। किंतु इस घटना का कोई आधार नहीं है, जबकि दीनजी ने अपनी वाणी में लिखा है कि किसी सांईके प्रभाव में आकर इन्होंने गृहत्याग किया था। इसलिए परिवार और गांव में बड़ा विरोध हुआ था। गांव से लोगों ने इनको बहुत सताया था और विवश होकर इनको वतन का त्याग करना पड़ा था।

गृहत्याग कर किसी सिद्ध पुरुष के साथ यह गिनागार चले गए थे। यह सिद्ध पुरुष कौन थे, इस विषय में लोकमत के आधार पर खेतसिंह गढवी ने लिखा है, कि वह बालयोगी थे, जो दीनजी के गुरु थे। माणेकलाल राणा का मत है कि यह गेबीनाथ थे, जो दीनजी के गुरु थे। माणेकलाल राणा का मत है कि यह गेदीनाथ थे। उनके आदेश से बाबादीन ने सोलह वर्ष तक गिरनार पर ध्यान-योग किया था।

कहते हैं, बाबा दीन को दत्त भगवान के दर्शन हुए थे। गेबीनाथ ने इन्हें दर्शन देकर बालगिरि स्वामी को गुरु बनाने की सूचना दी थी।

इस प्रकार बालस्वामी के मिलन का तथा शिष्य के रूप में इनके स्वीकार का उल्लेख भी बाबा दीन की वाणी में मिलता है।

बाबादीन के विषय में यह कहा गया है कि साधु होते हुए भी उनकी वेशभूषा रईसी थी। बड़े ठाठ-बाठ से रहते थे। घोड़े पर ही निकलते थे। प्रतिदिन पद-रचना करते थे और बाद में सर्वसाधारण के बीच उपदेश देते थे।

इनके निधन के विषय में खेतसिंह गढ़वी ने लिखा है कि सं० 1890 में चंबल में डूब जाने से इनकी मृत्यु हुई थी। राणा का मत है कि इनका निधन सं० 1889 की कार्तिक की शुक्ला एकादशी के दिन हुआ था और बाबादीन की मृत्यु डूबकर नहीं हुई थी। बल्कि उन्होंने चंबल में जलसमाधि ले ली थी। कारण यह था कि इनकी समाधि लेने की बात सुनकर हिंदू भक्त इनके शरीर को जलाना चाहते थे और मुस्लिम सेवक दफनाना चाहते थे। इस संघर्ष को रोकने के लिए उन्होंने जलसमाधि ली। इस बात का समर्थन इनके प्रिय शिष्य बाबा रब्बूल की वाणी से मिलता है।

बाबा दीन के समकालीनों में जूनागढ़ के शेरखां बाबी, राजकोट के डाकोर और 'प्रवीणसागर' के कर्ता मेरामणसिंह तथा उदयपुर के महाराजा भीमसिंह (वि० सं० 1834-1888) थे। इनके सिवा बाबा दीन ने अपनी वाणी में रवि साहब (सं० 1783-1860) खीमसाहब (1790-1857) मोरार साहब (सं० 1830-1905) जलाराम (सं० 1856-1937) आदि संतो के मिलन के उल्लेख किए हैं।

इसके निष्कर्ष में बाबा दीन के जीवन की घटनाओं का काल निर्णय इस प्रकार किया जा सकता है। वि० सं० 1768 में उनका जन्म हुआ। बीस वर्ष की आयु होने पर सं० 1788 में इन्होंने गृह-त्याग किया। ध्यानयोग के लिए गिरनार पर सोलह वर्ष अर्थात सं० 1804 तक रहे। एक वर्ष सं० 1805 में गुजरात और सौराष्ट्र की यात्रा की। तदनंतर तिरसट वर्षतक (वि०सं० 1806 से 1869 तक) पालनपुर में आश्रम बनाकर रहे। इसी बीच इन्होंने दक्षिण भारत तथा चारधाम की यात्रा प्रारंभ की, फिर सिंध, अफगानिस्तान, मक्का और काबा भी गए थे। वि०सं० 1869 में पालनपुर छोड़ वह मेवाड़ चले गए। वहां कैलासपुरी में बीस वर्ष (सं० 1869 से 1888 तक) निवास किया और अंत में सं० 1889 की क,र्तिक शुक्ला एकादशी के दिन कोटा के पास चंबल में जलसमाधि ले ली।

बाबादीन ने अपने जीवन से संबंधित जो कुंडलियां लिखी थीं उनका संग्रह उनके शिष्य रब्बूल ने किया था। उनसे इनकी यात्रा के अनेक प्रसंगों की जानकारी प्राप्त होती है।

पालनपुर के पास राधनपुर में बाबा दीन के समकालीन कवि कहान निवास करते थे। दोनों मित्र थे और सरस्वती के तट पर पूर्णिमा के मेले में इनकी काव्य-गोष्टी हुआ करती थी।

बाबा दीन के विषय में, ब्रजरत्नदास तथा परशुराम चतुर्वेदी द्वारा उल्लिखित ईस्ट इंडिया कंपनी में काम करने की और गोला लगने से बांह कट जाने की तथा निकाल दिए जाने की घटनाएं बाबा दीन के बजाय इनके एक शिष्य नरहरि ठाकर के साथ घटी थीं। जनश्रुति में ये बाबा दीन के नाम से जुड़ गईं। यह नरहरि पालनपुर इलाके के चंडीसर गांव का ठाकर भक्त था। वह जब फौज में भर्ती होने के लिए जा रहा था, उसी समय बाबा दीन दरवेश ने उसे यह चेतावनी दी थी—

"गुलाम गोरे का हुआ, ठाकर मनाया तोर।
टोपी तेरी ना बने, तू नहीं मानत मोर।
तू नहीं मानत मोर, दिन एक ऐसा अरहो।
अपनी बैयां वतई यार बहुत पछतैहौ।
कहत दीन दरवेश अनुज तू होवे हरि का।
नरहर नफा न पाय, गुलाम मत बनो गोरे का॥

बाबा दीन अंग्रेजों के विरोधी थे, क्योंकि उन्होंने देश को गुलाम बना रखा था। इस विषय पर इनकी अनेक कुंडलियां हैं।

बाबा दीन के जीवन की अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है। इनमें कुछ चमत्कारिक भी हैं।

प्राप्त वृत्त के आधार पर बाबा दीन के अनेक शिष्यों में से बाबा नुरुद्दीन, बाबा अमीदुद्दीन, बाबा मुराद, सांई नवी, सांई महम्मद शाह, विप्र भैरवनाथ, पी० दरवेश, बाबा फाजल, नेक्खान पठान, बाबा हुसेनखान, देवलपुरी, बाबा मुष्हान तथा बाबा रब्बूल कवि थे तथा उन्होंने हिंदी में रचनाएं की थीं।

उनके एक शिष्य मुल्तान मुसलमान थे और पहले बहुत क्रोधी थे। क्रोधावेश में आकर उन्होंने एक राजपूत स्त्री की हत्या की थी। फिर उसके बच्चे को देखा, तो पश्चाताप करने लगे। बच्चे को लेकर बाबादीन के पास आए और अपने लिए सजा मांगी। बाबा दीन ने उन्हें क्षमा कर दिया। वह बाबा के आश्रम में रहें और संत बन गए। हिंदी में उन्होंने कई छंद लिखे हैं।

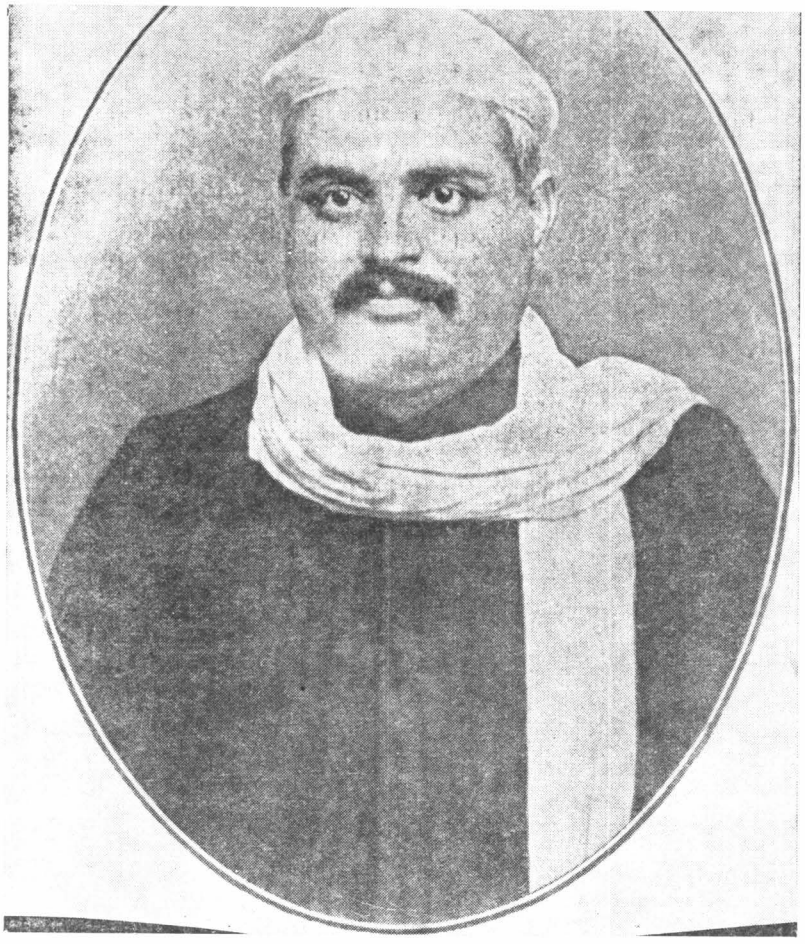
मुल्तान जिस बच्चे को ले आए थे और जिसको बाबा दीन ने पाल-पोसकर बड़ा किया, वही बाबा का प्रिय शिष्य रब्बूल था। वह बाबा का उत्तराधिकारी था और बाबादीन की वाणी के ग्रंथों को उनकी मृत्यु के एक वर्ष बाद सरस्वती में बहा देने से पूर्व रब्बूल ने उनकी नकल कर ली थी। रब्बूल स्वयं भी कवि थे और उन्होंने बाबादीन का चरित्र भी लिखा था।

बाबा दीन दरवेश की वाणी की हजारों कुंडलियां हैं। आज ये सारी उपलब्ध नहीं होंगी, किंतु जो भी उपलब्ध होती हैं, उनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनकी वाणी का सागर विशाल था। गुजरात में अनवर आगेवान ने एक संग्रह प्रकाशित किया है। इसमें **भजनभड़ा, तत्वसार, भ्रमतोड़, ध्यान परचा, चेतावनी सार** आदि अंगों में कुंडलियां विभक्त हैं। बाबादीन की कुंडलियों का एक संग्रह **गौरीशंकर हीराचंद ओझा** के पास है। अन्य संतों के संग्रहों में उनकी अनेक कुंडलियां है। **कल्याण संतवाणी अंक** में **फार्बस** गुजराती त्रैमासिक (जून 1937) में गुजरात के संतों की हिंदी वाणी में तथा माणेकलाल राणा के संग्रह में बाबादीन की अनेक कुंडलियां हैं। बाबादीन ने गीता, कुरान और भागवत के अनेक श्लोकों की समश्लोकी कुंडलियां लिखी थीं। वैष्णव संप्रदाय के **नवरत्नग्रंथ, कृष्णाश्रय ग्रंथ, भक्तिवर्धिनी ग्रंथ, जलभेद ग्रंथ** तथा **निरोध-लक्षण ग्रंथ** के कई संस्कृत श्लोकों की समश्लोकी कुंडलियां बाबादीन ने लिखी थीं। बबादीन ने दत्त अनुराग की अनेक कुंडलिया लिखी थीं। इन्होंने अपनी गिरनार यात्रा के वर्णन में गिरनार का भी विशद वर्णन किया है। कबीर की गुजरात यात्रा का विस्तृत वर्णन एकमात्र बाबादीन की वाणी में मिलता है। कृष्णभक्ति और निर्गुण भक्ति की अनेक कुडलियां हैं। ग्रंथों के रूप में इनके **दरवेश-गीता** तथा **भक्त बिरुदाबली** ग्रंथ प्राप्त होते हैं। **दरवेश-गीता** समश्लोकी गीता है। **भक्त-बिरुदाबली** में उन्होंने संत निर्मलदास, शिष्य नेकखान, अमीरुद्दीन, फाजल, दावलखान, कुब्वतलान, भक्त मांडल खेतसिंह गोहिल, गेहाजी, विदुराम, तोगाजी खेमाजी, जुगलचन्द, रामगीर गोसांई, काशीदास, मेरामन, तथा मोलक खवास जैसे अनेक भक्तों के चरित्र भक्तमाल की परंपरा में लिखे हैं।

बाबादीन की वाणी में जीवन की क्षणभंगुरता, सरलता, विश्वप्रेम, राष्ट्रीयता, ईश्वरभक्ति, परोपकार तथा कर्मवाद के महत्व का वर्णन है। कुछ विद्वानों ने इनके ऊपर सूफी और वैष्णव आचार्यों का प्रभाव माना है। किसी ने इनको कबीर-दादू की परंपरा में माना है। राणा ने इन्हें सूफी संत कहते हुए भी वैष्णव साहित्य के अनुरागी के रूप में इनका मूल्यांकन किया है। इनके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है, क्योंकि आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इन पर वेदांत और सूफीमत के अतिरिक्त अन्य मतों का प्रभाव भी माना है। इन्होंने गुरु के आदेशानुसार आत्म-चिंतन को भी महत्व दिया था।

बाबादीन की वाणी पर कबीर के संतमत का प्रभाव भी दिखाई देता है। इसके आत्मचिंतन, निर्गुण भक्तिभावना, मिथ्याचार का विरोध तथा हिंदू-मुस्लिम एकता संबंधी विचारों में कबीरमत की परंपरा के दर्शन भी होते हैं। इन्होंने कबीर को भी प्रगट गुरुपीर के रूप में देखा है। "तारे जीव अनंत वा प्रगट देखा गुरुपीर।"

इस स्थिति में बाबादीन की वाणी का विशद अध्ययन आवश्यक है। इनकी तथा इनके अनेक कवि शिष्यों की वाणी का संग्रह करना भी उतना ही आवश्यक है। ●



**रंगमंच के माध्यम से रामकथा को व्यापक जनसमूह तक पहुँचाने वालों में राधेश्याम कथावाचक का स्थान महत्वपूर्ण है। रामकथा-वाचन के साथ-साथ उन्होंने उर्दू-हिंदी में लोक-रामायण भी लिखी, जो दोबोला छंद में सहज-सरल भाषा में रची होने के कारण जनसामान्य में काफी लोकप्रिय हुई। धार्मिक नाटकों के क्षेत्र में भी उनके योगदान को नकारा नहीं जा सकता। यहां प्रस्तुत हैं उनके जीवन के कुछ प्रसंग।**

# रामकथा से रंगकर्म तक :

बरेली निवासी पंडित राधेश्याम की बाबत क्या लिखूं, क्या न लिखूं ? उनमें कोई एक गुण हो, तो उसका वर्णन किया जाए। वह तो गुणों के भंडार थे। उन जैसी मधुर कथा अब कौन बांचेगा ? फिर जब वह नाटक के मैदान में उतरे, तो कैसे-कैसे सुंदर धार्मिक नाटक उन्होंने लिखे, जिन्हें आज भी रामलीला समाप्त होने पर नाटक सभाएं जनता का मन मोहने के लिए रंगमंच पर खेलती हैं—**वीर अभिमन्यु, भक्त प्रहलाद, श्रीकृष्णावतार** इत्यादि।

राधेश्याम का जन्म 25 नवंबर, 1890 को बरेली में हुआ था। उनके पिता कथावाचक होने साथ-साथ गाने के भी शौकीन थे। रामलीला में चौपाइयां बड़े प्रेम से गाते। उन्होंने राधेश्याम को भी गाना और हारमोनियम बजाना सिखा विया। तर्जें सीखने के लिए वह उस्ताद राहतअली और पंडित बहादुर लाल के मकान पर भी जाते रहे।

**आनंद भवन में कथावाचन :** राधेश्याम दस-बारह वर्ष की आयु से पिता के साथ जाकर दूसरे शहरों में कथा कहने लगे। उन्हीं दिनों जवाहरलाल नेहरू की माता, स्वरूपरानी नेहरू बीमार हुई, तो डाक्टर ने कहा कि मनोरंजन के लिए इन्हें तुलसी रामायण की कथा सुनाएं। अब मोतीलाल नेहरू को एक मधुरवाणी वाले कथावाचक की तलाश हुई और अंत में पिता-पुत्र दोनों इलाहाबाद आकर आनंद भवन में एक मास तक कथा करते रहे।

इसी प्रकार, युवावस्था में राधेश्याम ने कलकत्ता के बड़ा बाजार के पास पुराने डाकखाने की इमारत में रामायण की पूर्ण कथा कही, जिसे सुनने के लिए मेडन थियेटर के एक्टर तक आया करते और बड़ी भीड़ होती थी। उन दिनों नाटक कंपनियों का बड़ा जोर था और राधेश्याम की रुचि भी स्टेज की ओर थी। उन्होंने धार्मिक नाटक लिखने का बीड़ा उठाया। इनमें **वीर अभिमन्यु, भक्त प्रहलाद, श्रवण कुमार, परिवर्तन, मशरिकी हूर; श्री कृष्णावतार, रूक्मणि मंगल** आदि उल्लेखनीय है।

**सरल भाषा :** पंडित जी जानते थे कि नाटक की भाषा सरल होने पर ही लुभा सकती है। इसलिए वह जहां आवश्यक समझते, शब्द बदल देते। रामायण में उन्होंने नारद से एक गाना गवाया था।

"अवध में है आनंद छाया, पुत्र कौशल्या ने जाया।"

परंतु नारद का पार्ट मास्टर रहमत अली करते थे, जो पंजाबी होने के नाते 'पुत्र' का उच्चारण 'पुतर' ही करते। यह देखकर राधेश्याम जी ने 'पुत्र' की जगह 'लाल' कर दिया—

लाल कौशल्या ने जाया।

मैंने बचपन में जब **आलमआरा** नाटक रंगमंच पर देखा, तो उसमें एक नृत्य का दृश्य था, जिसमें नर्तकियां फारसी की गजल भी गाती हैं—

ई रक्से महे खूबां, ई शीशओ पैमाना,
ई इशरते बे पायां, ई रोनके मैखाना।

मुझे अब से कुछ वर्ष पहले तक यही भ्रम रहा कि यह गाना आगा हश्र का लिखा हुआ है। पर बाद में यह जानकर बड़ा अचंभा हुआ कि यह गजल राधेश्याम जी ने अपने नाटक **मशरिकी हूर** के लिए लिखी थी। प्रसिद्ध नेता और कवि हसरत मोहानी ने भी उर्दू तथा मुस्लिम दृष्टिकोण से इस नाटक की सराहना की थी।

**अलवर नरेश प्रभावित :** 1929 में पंडित जी दिल्ली में **ईश्वर भक्ति** नाटक का रिहर्सल कर रहे थे। उन्हीं दिनों महाराजा अलवर ने उन्हें बुला भेजा। वास्तव में नरेश की रजत जयंती मनाई जा रही थी और उसमें पहले दिन मंदिर के उद्घाटनके समय महाराजा चाहते थे कि राधेश्याम आकर कथा करें। पंडितजी ने महाराजा के सैकेटरी से, जो उन्हें बुलाने आया था, आने-जाने के खर्च के अलावा पांच सौ रुपए एक दिन की दक्षिणा मांगी, जो तुरंत दे दी गई। परंतु पंडित जी अलवर पहुंचे, तो मंदिर का उद्घाटन कुछ दिनों के लिए मुल्तवी हो

"ठहरे, ठिठके, एकदम, लगे देखने नाथ
फिर पूछा—मुनिवृंद से—था जो इनके साथ।
है पूज्यवरो, ऋषियो-मुनियो, हड्डियों का कैसा ढेर है यह ?
यह तपोभूमि का है कलंक, या शासन का अंधेर है यह ?
हा ! कितना क्रूर कष्ट वाला करुणापूरित नज्जारा है ?
पकड़े हैं जिसने पांव मेरे, दिल को कर डाला पारा है।
यह क्या है बतलाओ तो सही, चुप क्यों हो कैसे डर-से रहे ?
किस माली का उजड़ा है बाग, जिसके यह फूल बिखर-से रहे।"

"फूल" हड्डियों को भी कहते हैं। अतः यहां इस शब्द का प्रयोग देखकर महाराजा बहुत प्रसन्न हुए। यहां तक वृतांत आते-आते पांच मिनट बीत गए थे। पंडित राधेश्याम ने फिर कहा—"रावण के डर से सभी ऋषि उस समय चुप-से थे। फिर भी कुछ बूढ़ों ने कहा :

हमको बेनृप की प्रजा जान, असुरों ने खूब सताया है।
कितने ही ऋषियों-मुनियों को अत्याचारों ने खाया है।।
जो भोजन बने रक्षकों के उनकी हड्डियां पड़ी हैं यह।
पत्ते तो खिजां के पेट में हैं—सूखी टहनियां पड़ी हैं यह।।
हसरत से उसको देख रहीं—जो अन्यायी से बदला ले।
पर मिला न ऐसा वीर कोई जो ब्योरा अगला पिछला ले।।
यह फूल हैं जिसकी बगिया के वह माली शायद सोता है।
उसकी ही लापरवाही से अन्याय बाग में होता है।।"

# राधेश्याम कथावाचक

—कृष्णबलदेव शर्मा

गया। जब दस दिन खाली बैठे बीत गए, तो पंडित जी सीधे अलवर नरेश, जयसिंह से मिले और वापसी की आज्ञा मांगी क्योंकि दिल्ली में नाटक की रिहर्सल रुकी हुई थी। महाराजा कहने लगे, "आज शाम सनातन धर्म सभा का आयोजन किया गया है, जिसमें जगद्गुरु शंकराचार्य सभापति होंगे और दीनदयालु शर्मा तथा गिरधर शर्मा के व्याख्यान होंगे। वहीं शुरू में दस मिनट आपके लिए रख देते हैं मंगलाचरण के नाम से। उसके पश्चात रात की गाड़ी से आप जा सकते हैं।"

दस दिन रुकने के पांच हजार रुपए तो पंडित जी ने कमा ही लिये थे। इस पर राजसी भोजन और सैर को मोटर अलग मिलती रही और फिर केवल दस मिनट का कार्यक्रम। चुनांचे राधेश्याम जी ने राम-वंदना का श्लोक पढ़कर सभा और अलवर नरेश का ध्यान रामायण की उस घटना की ओर दिलाया जहां राम-जानकी वन में जा रहे हैं कि हड्डियों का एक ढेर देख, ठिठककर मुनियों को पूछते हैं कि यह क्या है—

"अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछा मुनिन लागि अति दाया।।"

यहां पंडित जी ने अपनी लिखी हुइ रामायण का भाग गाकर सुनाया—

आठ मिनट हो गए। पंडित जी ने देखा कि अलवर-नरेश रो रहे हैं। वृत्तांत को समाप्ति की ओर बढ़ाते हुए बोले—

"करुण कहानी पड़ी जब करुणानिधि के कान।
क्यों आए हैं जगत में आया इसका ध्यान।।
गो ब्राह्मण-रक्षक गरज उठे—ऋषियो तुम सुनो प्रतिज्ञा को।
पृथ्वी, पाताल, गगनमंडल—तीनों तुम सुनो प्रतिज्ञा को।।
मैं हाथ उठाकर कहता हूं—यह दुख हरना है काम मेरा।
पृथ्वी को निशिचरहीन करूं—तब दशरथनंदन नाम मेरा।"

महाराजा की आंखों से नीर बह रहा था। पंडित जी ने लोहा गरम देखकर चोट की—

"रघुवंश में जन्म लेने वाले महाराजा साहब ! सनातन धर्म की भी हड्डियां आज बिखरी हुई हैं। यहां उपस्थित संतों और पंडितों के समक्ष खड़े होकर आप प्रतिज्ञा करें कि सनातन धर्म को पुनर्जीवन देने की सेवा अपने हाथ में लेंगे।"

घड़ी में दस मिनट पूरे हो चुके थे। इतने में रूमाल से आंसू पोंछते हुए महाराजा कहने लगे, आधा घंटा आपको और दिया जाता है, इस प्रसंग को पूरा कीजिए।"

पंडित राधेश्याम की कथा को इतना पसंद किया गया कि उस दिन रात आठ बजे तक यही कथा होती रही और सभा की

कार्रवाई दूसरे दिन के लिए उठा रखी गई। आठ बजे कथा समाप्त होने पर व्याख्यान वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा ने उठकर राधेश्याम जी को 'वाह बेटे' कहकर गले से लगा लिया। और ऊपर से महारानी का संदेश आया कि कल महल में कथा होगी। उसके पश्चात ही पंडित जी को दिल्ली जाने दिया जाए।

**आगा हश्र से भेंट :**—नाटक-जगत के विख्यात लेखक आगा हश्र को पंडित राधेश्याम जी ने पहली बार कानपुर में देखा, जब वह अपना नाटक **सूरदास** न्यू अल्फ्रेड कंपनी को बेचने आए थे—हजार रुपए में। यह 1915 की बात है। आगा हश्र का बड़प्पन इसी बात से जाहिर है कि उन्होंने अपना नाटक कंपनी के मालिक को सुनाते समय पंडित जी को भी बुलाया और बड़े शिष्ट शब्दों में कहा, "मैं मुसलमान हूं। उर्दू मेरी जबान है। यह धार्मिक नाटक है, हिंदी भी इसमें है। कहीं कोई त्रुटि हो, तो निस्संकोच मुझे बताइएगा"। उनके ड्रामा पढ़ने पर राधेश्याम जान गए कि बोलने और अपनी चीज को बेचने की कला में हश्र साहब बड़े दक्ष हैं। ड्रामा सुनते ही कंपनी के मालिक सोराब जी ने उनसे कहा, "आपका एक ही सीन हजार रुपए का है। जहां चिंतामणि विल्वमंगल से कहती है, 'जितना मुझे चाहा है, उतना भगवान को चाहते, तो कल्याण हो जाता'।"

फिर 1928 में कलकत्ता में भी पंडित राधेश्याम की आगा हश्र से भेंट हुई। वहां आगा हश्र 'मेडन थियेटर' के जाने-माने नाटककार थे और भारत के शेक्सपीयर कहलाते थे। वह दो-तीन बार बरेली भी पंडित जी के मकान पर जा चुके थे। राधेश्याम जी का कथन है कि आगा हश्र खर्चीले बहुत थे—नए नाटक से जो चार-पांच हजार रुपए कमाते, वह चार-पांच महीने में खर्च कर डालते। एक दिन कहने लगे, "इकन्नी हो तो देना, पान खाएंगे। आज तो पान खाने को भी जेब में पैसा नहीं है।"

दूसरी ओर पंडित राधेश्याम ने जो-कुछ कमाया, उसे संभालकर रखा। जायदाद खरीदी। शेयर खरीदे। भवन बनवाया। राधेश्याम प्रेस खोला। उन्होंने धन का दुरुपयोग कभी नहीं किया। तीर्थयात्राएं भी कीं। जब नाटक कंपनी को स्टेज करवा देते और वह पास हो जाता, तो पंडित जी अपनी धर्मपत्नी के साथ आसपास के तीर्थस्थानों को चल पड़ते। उन दिनों रेल की ओर से नाटक कंपनी के डायरेक्टर को दूसरे दर्जे का किराया देने पर प्रथम दर्जे का टिकट मिलता था। इस रियायत का पंडित राधेश्याम ने खूब लाभ उठाया।

लेखकों की कला का इम्तहान कैसे होता था, इसका भी एक उदाहरण सुन लीजिए। पं० राधेश्याम के नाटक **वीर अभिमन्यु** के एक शेर पर—

"जो ज्यादा मीठा होता है वह अपना नाश कराता है।
मीठा होने के कारण ही तोता पिंजड़े में आता है।"

सोराब जी ने यह कहकर शंका खड़ी कर दी कि इसकी पहली पंक्ति अर्थ की दृष्टि से बिल्कुल सही नहीं है, दूसरी पंक्ति लिखी जाए। हश्र साहब भी उस समय वहीं थे। पंडित जी ने एक-दो घंटे में पंद्रह-सोलह पंक्तियां लिखकर दिखाईं, पर कोई भी पसंद नहीं की गई। हश्र साहब ने भी कुछ पंक्तियां लिखकर दीं, जिनमें से यह पंक्ति कुछ पसंद की गई :

"राग, रंग, रस के प्रभाव से कंठ में फंदा जाता है।"

अंत में 27वीं बार, राधेश्याम जी की ये पंक्तियां स्वीकार की गईं—

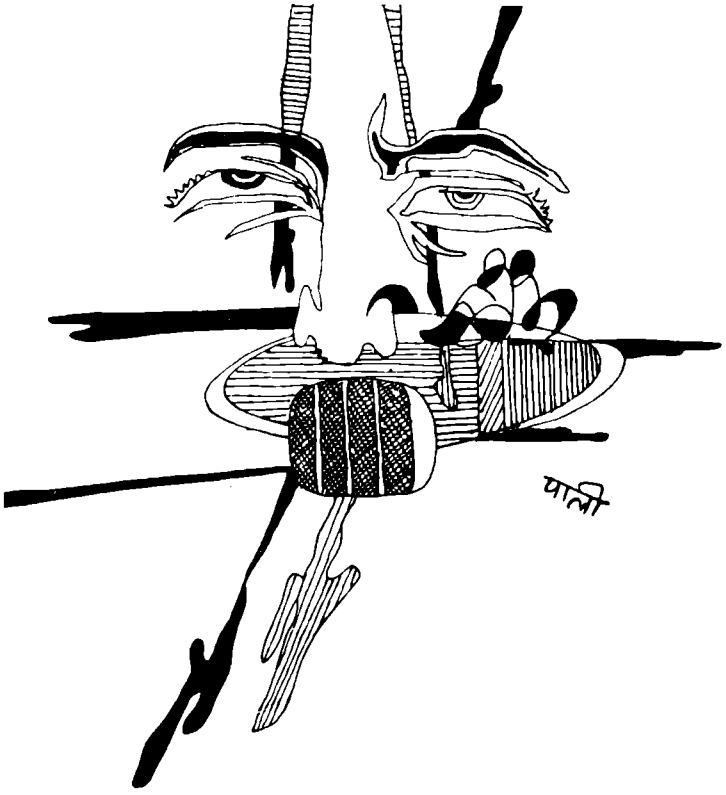
"विपरीत समय का मीठापन विष का-सा फल दिखाता है।
मीठे वचनों के कारण ही तोता पिंजड़े में आता है॥
जो ज्यादा मीठा होता है, वह अपना नाश कराता है।
मीठे गन्ने को देखें, वह कोल्हू में पेला जाता है।

**निरभिमानी :** पंडित जी चूंकि स्वयं परिश्रम करने के आदी थे और इसी गुण से जीवन में आगे बढ़े थे, इसलिए कामचोरी और बेईमानी को बरदाश्त न कर पाते थे। एक दिन लाहौर में कंपनी के हारमोनियम मास्टर ने मालिकों से वेतन बढ़ाने की मांग करते हुए कह दिया कि यदि तनख्वाह नहीं बढ़ती तो मैं नौकरी छोड़ दूंगा। प्रश्न उठा कि फिर रात को नाटक के समय क्या होगा? मालिकों ने पंडित जी से बात की जो नाटक के डायरेक्टर थे। उन्होंने कहा, "मैं मामला ठीक कर लूंगा।" हारमोनियम मास्टर रात को माथे पर पट्टी बांधकर आ गया और कहने लगा कि सिर फटा जा रहा है। इस पर पंडित राधेश्याम ने तुरत कहा, "तो जाकर आराम करो"।

वह सकते में आ गया। पंडित जी ने फिर कहा कि जाकर आराम करो। वह मालिकों के पास गया और उनकी सिफारिश लेकर आया, पर राधेश्याम नहीं माने और उन्होंने हारमोनियम स्वयं बजाया। इसके पश्चात उस हारमोनियम मास्टर ने तनख्वाह बढ़ाने की बात कभी नहीं की।

इसी प्रकार, लखनऊ में जब **परिवर्तन** नाटक चल रहा था, तो शंभु दादा का पार्ट करने वाला अभिनेता अपने पार्ट का बड़ा घमंड करने लगा और उसने एक-दो साथियों से यह भी कहा कि पंडित जी सिखाते जरूर अच्छा हैं, पर स्टेज पर करके भी दिखाएं, तो हम जानें। अचानक एक रात पंडित जी ने नाटक शुरू होने से पहले ड्रेस रूम से उस अभिनेता की धोती, बंडी और बाल मंगवा लिये। वह हैरान रह गया और पंडित राधेश्याम उस दिन 'शंभु दादा' बनकर रंगमंच पर निकले, तो सब लोग इस 'कथावाचक' का अभिनय देखने के लिए विंगों के के पास टूट-से पड़े। यहां तक कि स्टेज पर पार्ट का ध्यान छोड़कर शंभु दादा का ही अभिनय देखते रह गए। एक जगह नाटक में उनका साथी अभिनेता शंभुदादा के लात मारता है, पर उस दिन वह अपने डायरेक्टर राधेश्याम का पार्ट देखने में ऐसा खोया कि अदब के कारण उसकी लात ही न उठ सकी। तब पंडित जी को नया वाक्य बनाकर वहां कहना पड़ा, "मालिक,

**(शेष पृष्ठ 33 पर)**







गुजराती नाटक

लाभकर ठाकुर

# मरने की खुशिय

(एक युवक 'छ' प्रवेश करता है। शरीर दुबला-पतला, कपड़े, फटे हुए साइकिल के पीछे कैरियर पर अखबारों की थप्पी। हाथ में एक अखबार। अखबार खोलकर पढ़ने बैठ जाता है। थोड़ी देर के बाद, दुसरा युवक 'ब' प्रवेश करता है। काला कुर्ता और नीचे मैली-कुचैली रंगीन पेंट। कंधे पर थैला।)

**ब :** भाई, क्षमा करना। थोड़ी तकलीफ दे रहा हूं। मैं यात्रा पर निकला हूं और रास्ता भटक गया हूं। मुझे बताओगे, यह रास्ता किधर जाता है ?

**छ :** यह रास्ता ? मुझे पता नहीं है। इस रास्ते से मैं कभी नहीं गया। इस ओर जाने की मुझे आवश्यकता ही नही हुई।

**ब :** भाई सचमुच ही, मैं भटक गया हूं। कृपया मुझे रास्ता बताओ। मैं यह मानकर चलता हूं कि तुम मेरी मजाक नहीं उड़ा रहे हो।

**छ :** मजाक ? तुम्हारा मजाक मैं किसलिए उड़ाऊंगा ?

**ब :** तो क्या वास्तव में तुम्हें इस रास्ते के बारे में पता नही हैं।

**छ :** मैं भला झूठ किसलिए बोलूंगा ?

**ब :** मुझे सचमुच, आश्चर्य हो रहा है। इस प्रदेश का होने के बावजूद तुम्हें मालूम नहीं कि यह रास्ता किधर जाता है। आश्चर्य की बात है।

**छ :** मुझे भी आश्चर्य होता है कि तुम भटक गए हो, इसका

**ब :** इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? मैं तो सैलानी हूं। घूमने निकला हूं।

**छ :** किसलिए ? तुम्हें कहां जाना है ?

**ब :** बस ऐसे ही घूमने निकला हूं। मुझे कही भी नहीं जाना है।

**छ :** कितने समय से ऐसे घूम रहे हो ?

**ब :** इसका मुझे मालूम नहीं। लेकिन मैं बहुत वर्षों से ऐसे घूमा करता हूं।

**छ :** तुम कब से रास्ता भटक गए ?

**ब :** मुझे यह भी मालूम नहीं, परंतु मुझे निरंतर यह लगता है कि मैं रास्ता भूल गया हूं। रास्ता पूछ-पूछकर आगे बढ़ता हूं।

**छ :** मगर तुम्हें जाना कहां है ?

**ब :** यही तो मुझे मालूम नहीं, भाई !

**छ :** फिर तो यात्रा ही बंद कर दो। जहां हो वहीं रहो। इस तरह तुम क्यों चलते रहते हो ?

**ब :** भाई पैर हैं। यह चलने के लिए ही हैं न ?

**छ :** पैर कोई सिर्फ चलने के लिए थोड़े ही हैं। इस पर खड़ा भी रहा जाता है यह देखो न, तुम खड़े भी हो पैर पर।

**ब :** तुम्हारी बातों से मुझे आश्चर्य हो रहा है। पैर जैसे चल सकते हैं वैसे पैर पर खड़े भी रह सकते हैं। हां, पैर पर इस प्रकार खड़े भी रह सकते हैं। कैसी आश्चर्यजनक, लेकिन सच्ची बात है। मेरा तो इस ओर ध्यान ही नहीं गया।

**छ :** और पैरों को इस प्रकार लटकाकर बैठा भी जा सकता है। देखो, मैं कैसे बैठा हूं। बैठना है तुम्हें ? आओ बैठना हो तो !

**ब :** (छ के पास बैठता है।) और यह तो मजेदार बात है। हम बैठ भी सकते हैं। (पैर हिलाता है) और पैर को इस प्रकार हिला भी सकते हैं। सचमुच बहुत आनंद आता है ऐसे बैठने से। (छ की ओर पल भर देखकर) तो तुम इस तरह बैठे ही रहते हो ?

छ : ना रे भाई, इस तरह बैठे रहे तो कोई मना करता है ? हां मुझे बैठने का शौक है। मैं तो समय मिलते ही बैठ जाता हूं। (यकायक खड़ा हो जाता है।) अच्छा भाई मैं जाता हूं। मुझे अभी अखबार बेचने जाना है।

ब : अखबार बेचने ?

छ : हां, दोस्त ! इस पर तो मेरा गुजारा चलता है। दो पैसे कमाऊंगा तब कुछ खाने को मिलेगा। (जाने लगता है। ब खड़ा होकर उसका हाथ पकड़कर रोकता है। छ खड़ा रहता है) क्यों क्या है ?

ब : तुम्हें भूख लगी है ?

छ : अरे, बड़े जोर की लगी है। कल दोपहर को खाया था।··· अच्छा भाई, मुझे जाने दो। तुम्हारे साथ बात करने रूकूंगा, तो समय निकल जाएगा और बस रवाना हो जाएगी।

ब : बस ?

छ : हां, इस समय एक बस शहर से आती है और कुछ समय बाद वापस चली जाती है। इस समय अखबार बिकते हैं।

ब : यदि तुम्हें एतराज न हो तो मेरे पास खाने के लिए है। मुझे भी भूख लगी है। आज तुम अखबार बेचने मत जाओ।

छ : सचमुच ?

ब : हां, आओ, अपन बैठते हैं। (दोनों नीचे बैठते हैं।) ऐसे बैठना वास्तव में बड़े आनद की बात है, खड़े रहने और चलने की क्या जरूरत है ? इस तरह बैठे ही रहें, तो।

छ : अरे, बैठने के अलावा दूसरी भी एक आनंद की बात है।

ब : कौन सी ?

छ : सो जाने की ! (शरीर को लंबा करता है।) देखो···इस तरह से। तुम भी सो जाओ न। (ब प्रयत्न करके लेटता है।) क्यों, कैसा लगा रहा है ?

ब : अरे, यह तो बड़ी खुशी की बात है। इतना अधिक सुख मिलता है सोने में ? इसमें तो बैठने से भी ज्यादा आनन्द आता है। (थोड़ा रुक जाता है।) बहुत बड़ी भूल की है मैंने। सारी जिंदगी बस चलता ही रहा। दो घड़ी बैठा भी और सोया भी नहीं।

छ : (बैठकर) चलो, अब बैठते हैं और खाना खाते हैं।

ब : मैं तो लेटे-लेटे ही खाऊंगा। तुम इस थैले में से खाने का सामान निकालो।

(छ थैले में से वस्तुएं बाहर निकालता है। उसमें से मोतियों की माला निकलती है। एक टूटी हुई मूर्ति, मोर का पंख, रंगीन कपड़े इत्यादि निकलते हैं।)

छ : अरे दोस्त, इसमें तो खाने को कुछ नहीं है। कहां रखा है, तुमने ?

ब : इसी में ही है। तुम अच्छी तरह से देखो न।

(छ सभी वस्तुओं को जल्दी से बाहर निकाल देता है। उसमें से बांसुरी, दीपक, फुग्गा निकलता है।)

छ : (थैला उलटकर झपटते हुए) अरे, इसमें तो कुछ भी नहीं है। खाने की एक भी चीज नहीं है इसमें। तुमने मुझे धोखा दिया है। अब तो बस भी रवाना हो चुकी होगी। मुझे ऐसी जोर की भूख लगी है। तुमने झुठ बोलकर मुझे किसलिए रोके रखा ? तुम कोई बदमाश हो। बोलो, कहां है खाने को ?

ब : अरे भाई, मैंने सोचा था थैले में खाने को है। मुझे जैसे ही भूख लगेगी तब खाऊंगा। लगातार चलने में मैंने कभी खाने का विचार ही नहीं किया। सच कहूं, मैं तो भूख को भूल ही गया हूं। इस प्रकार सोए रहने में ऐसा आनंद आता है। सुम भी सो जाओ न।

छ : अरे, सोऊं कैसे ? मेरे पेट में तो चूहे दौड़ रहे हैं। (खड़ा होकर चक्कर लगाता है।) भूख तो ऐसी लगी है कि तुझे ही काट खाऊं।

ब : तो काट खा न दोस्त। मुझे तो इस तरह सोए रहने में ही बड़ा आनंद आता है···आ हा हा। कैसी अनौखी बात है, इस तरह सोए रहने में। तुम भी सो जाओ न !

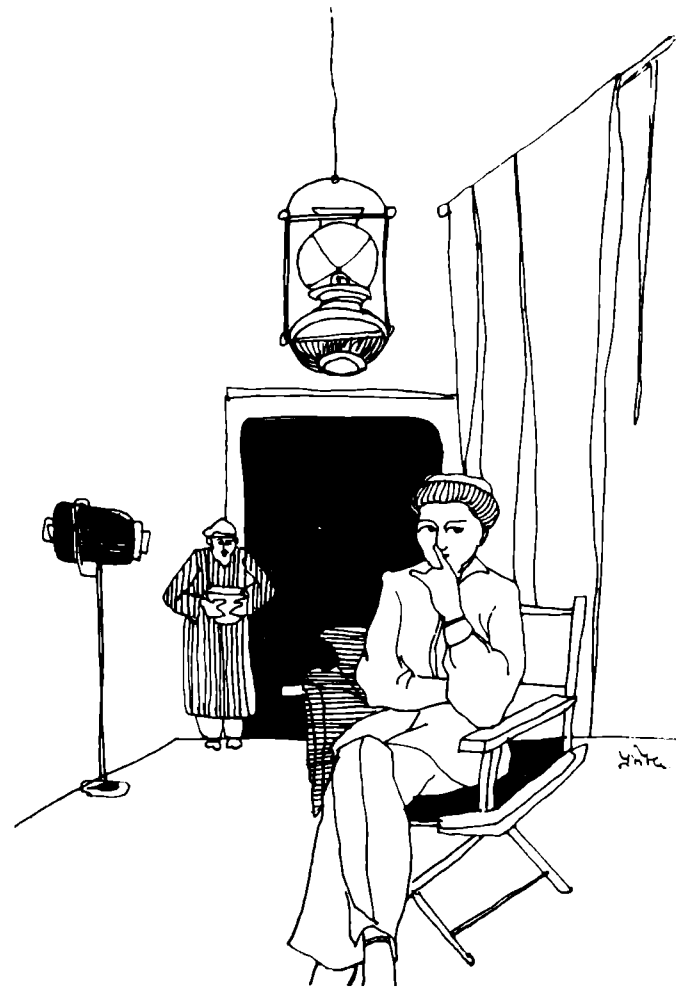
छ : मुझे भूख लगी है।

ब : मुझे बहुत आनंद आता है।

छ : मुझे भूख लगी है।

ब : मुझे बहुत आनंद आता है।

(आवाज धीमी होती जाती है। अंधेरा घना होता जाता है। आवाज आधी बंद हो जाती है। घंटाघर से तीन टकोरे सुनाई देते हैं, राजसी बस्त्रों-आभूषणों से सुशोभित एक कन्या दबे पांव आती है। प्रकाश होता है। कन्या सोए व्यक्तियों के पास आकर खड़ी हो जाती है। आश्चय भाव से देखती है।



थैले के बाहर बिखरी पड़ी वस्तुओं के पास जाकर बैठ जाती है। मोर के पंख को बड़े आश्चर्य से देखती है। हाथ में पंख लेकर खड़ी होती है।

**कन्या :** कैसी सुंदर-सुंदर वस्तुएं हैं। यह पंख मोर का लग रहा है। मैंने मोर को कभी भी देखा नहीं। तस्वीर में मोर कैसा सुंदर लगता है। वास्तव में मोर कैसा अद्‌भुत होगा। बरसात के ठंडे-ठंडे वातावरण में जब उसकी आवाज सुनाई देती है, मैं दासी से पूछती हूं—यह किसकी आवाज है? वह जवाब देती है—मोर की। सचमुच, मोर कैसा होगा? राजमहलों में सभी नींद में सो जाते हैं तब मैं बाहर निकल आती हूं। आज यहां ये दो व्यक्ति कौन सो रहे हैं? इन्हें इस तरह पड़े रहना और नींद लेना कैसे अच्छा लगता होगा? जगाऊं इन्हें।

(दोनों के नजदीक जाती है। छ के कान पर पंख लगाती है। पंख का स्पर्श होते ही, छ नींद-ही-नींद में कान पर हाथ फेरता है और करवट बदल लेता है। राजकुमारी फिर नाक पर पंख फेरती है। छ एकाएक उठ बैठता है और दो छींकें लेता है। राजकुमारी को देखकर चौंक उठता है। राजकुमारी खिलखिलाकर हंस पड़ती है।)

**छ :** तु···म तु···म कौन हो?

**राजकुमारी :** तुम कौन हो?

**छ :** मैं अखबार वाला! अखबार बेचता हूं।

**राजकुमारी :** तुम अखबार वाले हो? अखबार में बहुत-कुछ आता है, उसे तुमने देखा है? नहीं देखा है। मुझे उन सब जगहों पर ले जाओगे?

**छ :** मैंने तो कुछ नहीं देखा।

**राजकुमारी :** तुम झूठ बोलते हो। जरूर ही तुमने सब जगह देखी हुई हैं। मैं तो तुम्हारे साथ चलूंगी।

**छ :** लेकिन मैं तो कहीं जाता ही नहीं हूं। मैंने तो कुछ देखा ही नहीं।

**राजकुमारी :** सचमुच तुमने कुछ भी नहीं देखा? तुमने मोर भी नहीं देखा?

**छ :** मोर? मोर तो देखा है।

**राजकुमारी :** (उत्सुकता से) मोर देखा है तुमने? कैसा होता है मोर?

**छ :** मोर भला कैसा होता है? मोर मोर जैसा होता है।

**राजकुमारी :** नहीं, तुम इस तरह बात उड़ा रहे हो, यह नहीं चलेगा। तुम्हें मुझे बताना पड़ेगा कि मोर कैसा होता है। मुझे मोर देखना है, मोर। (राजकुमारी खड़ी होती है और फिर छ का हाथ पकड़कर उसे खड़ा करती है।) चलो मुझे मोर दिखाने ले चलो। चलो न।

**छ :** (हाथ छुड़ाते हुए) नहीं, मुझे इतनी फुर्सत नहीं है। मुझे तो अखबार बेचने जाना है। दो पैसे आएंगे, तब उनसे कुछ खाने को लूंगा। मुझे तो बहुत जोर की भूख लगी है। कल से कुछ खाया नहीं है।

**राजकुमारी :** तुमने कल क्यों नहीं खाया? क्या तुम्हें खाने में तकलीफ होती है? मैंने भी कल शाम को कुछ नहीं खाया था। हमेशा खाने में बोरियत होती है।

**छ :** खाने में बोरियत होती है? तुम कैसी बात करती हो? मुझे तो यदि कोई खाने को दे, पर्याप्त मात्रा में, तो मैं बैठा-बैठा खाया ही करूं। खड़ा भी नहीं होऊं। बस खाया ही करूं।

**राजकुमारी :** मेरे लिए तो हमेशा दासी खाने को ले आती है और मेरा मन मरने का होता है। जी चाहता है कि जीभ कुचलकर मर जाऊं। सवेरा हुआ और बड़ा गिलास दूध का भरकर ले आती है, फिर नाश्ता आता है, फिर खाना ले आती है, फिर दोपहर का नाश्ता आता है, फिर खाना आता है। फिर बाद में बड़ा गिलास भरकर दूध ले आती है। (छ आश्चर्य और लिप्सा से सुनता रहता है।) खाने का नाम सुनकर मुझे तो कंपकंपी छूटती है। इस बात को ही छोड़ दो। कोई दूसरी बात करो। तुमने नदी देखी है?

**छ :** हां, देखी है।

**राजकुमारी :** तुम नाव में बैठे हो?

**छ :** ऊं हूं, नहीं बैठा।

**राजकुमारी :** (छ का हाथ पकड़कर) तो फिर चलो, मुझे नदी पर ले चलो। हम नाव में बैठेंगे। चलो।

**छ :** अरे, मुझे तो अखबार बेचने जाना है।

**राजकुमारी :** पर अखबार बाद में बेचना न। अपन साथ में ही अखबार बेचेंगे।

**छ :** नहीं, नहीं। फिर तो बस चली जाएगी। मुझे कल की तरह भूखों मरना पड़ेगा।

**राजकुमारी :** अपना खाना मैं तुम्हें दे दूंगी। मुझे तो अब कभी खाना ही नहीं है। चलो मुझे नदी पर ले चलो।

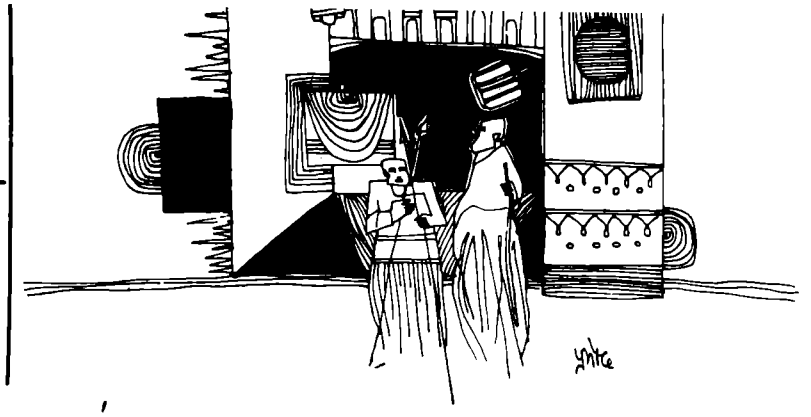
**छ :** अरे मुझे अभी भूख लगी है। मेरे से तो नदी तक चला भी नहीं जाता है। मैं तो तुरंत ही चने लेकर खाऊंगा और फिर ऊपर से पानी पिऊंगा, ताकि सीधा बस पर जाकर अखबार बेच सकूं।

**राजकुमारी :** अरे, इतनी क्या खाने की उतावली है तुम्हें? मैं कल रात को तुम्हें बहुत सारा खाना दे दूंगी।

**छ :** कल रात? तब तक तो मैं भूख से मर ही जाऊंगा। मुझे मरना नहीं है। अपने पिताजी को मैंने मरते हुए देखा है। वे भूख के कारण ही मर गए थे। उस दिन उनके अखबार बिके नहीं थे।

**राजकुमारी :** तुम्हें वास्तव में बहुत जोर की भूख लगी है। भूख लगे तब क्या होता है?

**छ :** भूख तो ऐसी लगी है कि कोई कच्चा अनाज भी दे, तो भी उसे खा जाऊं। पेट में चूहे बोल रहे हैं।



**राजकुमारी :** चूहे ? पेट में बोलते हैं ? मुझे तो कुछ भी सुनाई नहीं देता है ।

**छ :** यह देखो न, पेट में कुतियों के पिल्लों जैसी आवाज आती है ।

(राजकुमारी नीचे झुककर, छ के पेट पर कान रखकर सुनती है ।)

**राजकुमारी :** अरे हां, कुछ सुनाई तो दे रहा है । मैंने तो ऐसी आवाज कभी सुनी ही नहीं है । (फिर कान रखकर आवाज सुनती है ।) कैसी आवाज आती है । (आनंद पूर्वक) घरड़-घरड़ । चूं । चूं । (फिर से कान रखकर सुनती है ।) मुझे भूख लगे, तो पेट में ऐसी ही आवाज होगी ।

**छ :** भूख लगे, तो ऐसी आवाज होती ही है ।

**राजकुमारी :** परंतु मुझे भूख कब लगेगी ? मुझे भूख तो नहीं लगती है । मेरे पेट में कभी भी''' उसको क्या कहते हैं ? हां, हां, पिल्ले ! मेरे पेट में कभी भी पिल्ले नहीं बोलते हैं । पिल्ले कैसे होते हैं ? मुझे दिखाओगे ? मुझे पिल्ले देखने हैं ।

**छ :** अभी नहीं ! वह तो एक खास ऋतु में कुतिया व्याती है, तभी देखने को मिलेंगे । लेकिन उसका क्या देखना है ? चलो मेरे तो जाने का समय हो गया है ।

(अखबारों की थप्पी उठाता है और साइकिल लेकर पेडल मारता है । राजकुमारी पास आकर खड़ी होती है ।)

**राजकुमारी :** तुम कहां जा रहे हो ?

**छ :** बस पर, अखबार बेचने ।

**राजकुमारी :** बस कैसी होती है ।

**छ :** बस फिर बस जैसी होती है । उसमें बैठकर बाहर गांव में जाते हैं ।

**राजकुमारी :** मैं तुम्हारे साथ बस पर चलती हूं । हम उसमें बैठकर बाहर गांव चलेंगे ।

**छ :** तुम्हें जाना हो तो चली जाना अकेली । मुझे तो अखबार बेचने जाना है । बस में जाने के लिए पैसे भी नहीं है मेरे पास ।

(साइकिल चलाता है । राजकन्या उसके पीछे-पीछे दौड़ती है ।)

(अंधेरा । आधे मिनट के बाद उजाला होता है । ब जम्हाई लेकर उठकर बैठ जाता है । चारों तरफ देखता है । नीचे पड़ी थैली की वस्तुओं की ओर देखता है । सभी वस्तुओं को एक के बाद एक, बैठे-बैठे ही संगृहीत करके थैले में रख लेता है ।)

**ब :** इसमें एक माला थी । वह कहां गई ? मोर का पंख भी नहीं है । वह अखबार वाला भी दिखाई नहीं देता ! अखबार बेचने गया होगा ? वापस कब आएगा ? आएगा, जब उसे आना होगा । चलो मैं तो लेटता हूं ।

(लेट जाता है । कुछ समय बाद खाकी कपड़े पहने हुए, दो मूंछों वाले आदमी आते हैं, जल्दी से प्रवेश करते हैं । ब को सोया हुआ देखकर उसे झकझोरते हैं । झट से दोनों लंबी बंदूकें तानकर खड़े हो जाते हैं ।)

**नं० 1 :** हैंडस अप ! अपने हाथों को ऊंचा करो ।

**ब :** हाथो को ऊंचा करूं ? किसलिए ?

**नं० 1 :** अपने हाथ ऊपर करो ।

**ब :** तुम्हारा अनुरोध है तो हाथ ऊपर कर लेता हूं ।

(लेटे-लेटे ही दोनों हाथ ऊपर करता है ।)

**नं० 1 :** खड़े हो जाओ । (व खड़े होने का प्रयत्न करता है । लेकिन हाथ ऊपर होने से वह खड़ा नहीं हो सकता है ।) खड़ा हो । जल्दी कर ।

**ब :** (फिर खड़ा होने का निरर्थक प्रयत्न करता है) मैं खड़ा नहीं हो सकता हूं । मुझे कुछ हो गया है ।

**नं० 2** हां, वास्तव में यह आदमी खड़ा नहीं हो सकता है । इसे कुछ हो गया है ।

**नं० 1 :** सबुर ! धोखे में मत आना । यह ढोंग करता है । इसे कुछ भी नहीं हुआ है । यह खड़ा नहीं होना चाहता ।

**ब :** (खड़ा होने का प्रयत्न करता है । ) मैं ढोंग करता हूं ? मुझे ढोंग करने की क्या जरूरत है ? तुम देख नहीं रहे हो, मैं प्रयत्न करने के बावजूद खड़ा नहीं हो सकता ।

**नं० 2 :** इसे वास्तव में कुछ हो गया है । हमें इसकी मदद करनी चाहिए ।

**नं० 1 :** मुझे यह सब षडयंत्र लग रहा है ।

**नं० 2 :** मुझे ऐसा नहीं लगता । इसकी यह हालत देखकर मेरा हृदय भर आया है । (ब के पास जाकर उकडूं बैठता है ।) तुझे क्या हुआ, भाई ?

**ब** : सैं खड़े होने की शक्ति खो चुका हूं ।

**नं० 2** : कुछ देर आराम करो, भाई। तुम थक गए हो। आराम करके फिर से प्रयत्न करना।

**नं० 1** : (नं 2 की ओर गुस्से भरी नजरों से देखकर) तुम्हारी दयालुता कभी-न-कभी मुसीबत में फंसा देगी।···अपना कर्तव्य तो अभी राजकुमारी को ढूंढ निकालना है। मुझे संदेह है कि यह बदमाश ही उसे उठा कर ले गया है।

**नं० 2** : अगर यह उठाकर ले गया होता, तो फिर यहां राज-महल के पास ही किसलिए पड़ा मिलता ?

**नं० 2** : हां, यह भी सोचने लायक बात है। चल, इससे पूछकर देख लें (दोनों ब के पास जाते हैं।) ऐ···य तू कौन है ? तेरा क्या नाम है ?

**ब** : मुझे उठाओ। फिर जवाब दूंगा। (नं० 1 और नं० 2 उसे खड़े होने में सहायता करते हैं। ब खड़ा होता है। उसके हाथ अभी ऊपर हैं।) हाथों को नीचा कर लूं, तो आपको कोई एतराज है ?

**नं० 2** : मुझे कोई ऐतराज नहीं है।

(ब हाथों को नीचे करता है।)

**नं० 2** : खड़ा रह (नं० 1 ब की जेब टटोलता है। उसमें कुछ भी नहीं मिलता है।) आल राइट। हाथ नीचे कर ले। चल अब जवाब दे, तू कौन है ?

**ब** : सैलानी।

**नं० 1** : क्या नाम है तुम्हारा ?

**ब** : नाम मुझे मालूम नहीं है।

**नं० 1** : मलूम नहीं है ? तुझे तेरे नाम का पता नही ?

**ब** : मुझसे किसी ने मेरा नाम कभी पूछा ही नहीं है। आज पहली बार तुमने ही पूछा है। अपने नाम के बारे में मुझे कुछ भी मालूम नहीं है।

**नं० 1** : अच्छा, तू काम क्या करता है।

**ब** : काम ? काम कुछ नहीं करता। सिर्फ घूमता हूं। मैं सैलानी हूं, घूमते-घूमते यहां चला आया हूं।

**नं० 1** : यहां राजमहल के बाहर क्यों सो रहा था ?

**ब** : मुझे अखबार वाले ने सोना सिखाया है। मुझे तो मालूम भी नहीं था कि हम सो भी सकते हैं। कितने आनंद की बात है यह सोना भी। मैं तो सो रहा हूं। (ब नीचे बैठकर लेट जाता है।)

**नं० 1** : यह कोई जासूस लगता है।

**नं० 2** : मुझे तो पागल आदमी लग रहा है।

**नं० 2** : अजीब आदमी है। अरे ए···वह अखबार वाला कहां गया है ?

**ब** : शायद अखबार बेचने बस पर गया होगा।

**नं० 1** : (नं० 2 की ओर देखकर) अपन बस पर चलें। अख-बार वाला ही राजकुमारी को उठाकर ले गया होगा।

**नं० 2** : हां, चलो।

(दोनों जल्दी-जल्दी जाते हैं। थोड़ी देर के लिए अंधेरा। फिर उजाला होता है। ब सोया हुआ। नं० 1 अखबार वाले की कलाई पकड़े हुए प्रवेश करता है। उसके पीछे राजकुमारी है। हाथ में मोर का पंख है। राजकुमारी के के पीछे-पीछे नं० 2 साइकिल लिए आता है।)

**नं० 1** : हराम खोर। राजकुमारी को भगाकर ले जा रहा था ?

**राजकुमारी** : नहीं, यह गलत बात है। मुझे यह भगाकर नहीं ले गया। मैं ही इसके पीछे-पीछे गई थी।

**नं० 1** : राजकुमारी। आप बीच में नहीं बोलोगी। इस बदमाश को कड़ी-से-कड़ी सजा मिलेगी।

**छ** : अरे, लेकिन मेरा कोई कसूर ?

**नं० 1** : राजकुमारी तेरे साथ थीं या नहीं। इनके हाथों में अखबार की थप्पी थी कि नहीं ? ये तुम्हारे साथ अखबार बेच रही थीं या नहीं ?

**छ** : हां, लेकिन मेरा इसमें क्या कसूर है ? मैंने तो बहुत ही मना किया था, लेकिन इसने मेरे हाथों से जबरदस्ती अखबार छीन लिए थे ? फिर मैं क्या करता ?

**राजकुमारी** : हां, मुझे अखबार बेचने में बड़ा आनंद आता है।

**नं० 1** : आनंद ? अखबार बेचने में ?

**राजकुमारी** : अरे आनंद भी कैसा ! वाह, वाह ! मुझे ऐसा आनंद तो कभी भी नहीं आया। (अखबार बेचने का अभिनय करती है।) ऐ···य आज की ताजा खबर पढ़िए। पश्चिमी सरहद पर घमासान युद्ध। दुश्मनों की लगातार गोलाबारी। पढ़िए-पढ़िए आज की ताजा खबर। (सभी राजकुमारी की ओर देखते रहते हैं। राजकुमारी एकाएक सोए हुए ब के पास जाती है। हाथ में ले रखी मोर की पांख से उसे जगाती है। ब जाग उठता है।) ऐ···य, तुनने आज का अखवार पढ़ा है ?

**ब** ; नही, क्यों ?

**राजकुमारी** : अरे, तुमने अखबार नहीं पढ़ा आज का ? (नं० 2 के पास से जाकर साइकिल के कैरियर पर रखी अखबार की थप्पी में से एक प्रति ब को देती है।) चलो पच्चीस पैसे निकालो।

**ब** : पच्चीस पैसे ?

**राजकुमारी** : हां, हां, पच्चीस पैसे, इस अखबार के। चलो निकालो।

**ब** : मेरे पास पैसे तो नहीं है।

**राजकुमारी** : पैसे नहीं हैं ? और तुझे अखबार पढ़ना है ? कहीं पागल हो गया है क्या ? लाओ, लाओ, वापस दे दो। (अखबार छीन लेती है।) पैसे नहीं और अखबार पढ़ना है। (नं० 1 के पास जाती है।) क्या तुम्हें अखबार पढ़ना है ?

**नं० 1** : नहीं, राजकुमारी।

**राजकुमारी** : (नं० 2 के पास जाकर) तुम्हें अखबार पढ़ना है ?

**नं० 2** : नहीं, राजकुमारी ।

**राजकुमारी** : (छ के पास जाकर) तुम्हें अखबार पढ़ना है ?

**छ** : मुझे तो अखबार बेचने हैं । मुझे बहुत जोर की भूख लगी है । मेरे तो यहां पर प्राण निकल जायेंगे ।

**नं० 1** : नहीं, तो भी तुम मरने वाले हो । तुम राजकुमारी को धोखे से भगा ले गए थे ।

**राजकुमारी** : नहीं, इसे छोड़ दो । अंदर जाकर खाना ले आओ । जाओ ।

**नं० 1** नहीं, राजकुमारी । राजाजी की आज्ञा है कि आपको ढूंढ़कर लाएं । और आपको उठा ले जाने वाले को फौरन हाजिर किया जाए । इसलिए अब राजा के पास चलो । (छ की कलाई खींचकर आगे करता है ।) चल, हरामखोर ! तुझे तो फांसी पर लटकाना है ।

**छ** : अरे, लेकिन मुझे किसलिए ले जा रहे हो ? भूख के मारे मर रहा हूं और इसमें मेरा कोई कसूर भी नहीं है । मुझे छोड़ दो । आज मैं ये अखबार नहीं बेच सकूंगा, तो कल ये सारे बेकार हो जाएंगे । मुझ गरीब को छोड़ दो ।

(ब खड़ा होता है । नं० 1 के पास जाकर रुक जाता है ।)

**ब** : छोड़ दो इसे ।

**नं० 1** : क्या मतलब ? तू कौन है बीच से होशियारी करने वाला ?

**ब** : मैं ? मैं कौन हूं । यह मुझे मालूम नहीं । लेकिन तुम छोड़ दो इसे ।

**नं० 1** : किसलिए छोड़ दूं ? यह अपराधी है । (नं० 2 के हाथ से साइकिल की घंटी बज जाती है । नं० 1 उसकी तरफ गुस्से से देखता रहता है ।) क्या कर रहा है तू ?

**नं० 2** : कुछ भी नहीं ।

**नं० 1** : घंटी किसने बजाई ?

**नं० 2** : बज गई । ऐसे ही बज गई ।

**नं० 1** : लेकिन मैं पूछ रहा हूं कि किसने बजाई ?

**नं० 2** : बज गई, इतना तो मैं जानता हूं । मेरी अंगुली से बजी है, यह भी सच है । परंतु मैंने नहीं बजाई । ऐसी गंभीर परिस्थिति में मैं घंटी किसलिए बजाऊंगा ?

(राजकुमारी साइकिल के पास बड़ी उमंग के साथ जाती है)

**राजकुमारी** : अरे, कैसी मधुर आवाज आई थी ? कहां है घंटी ?

**नं० 2** : यह रही ।

**राजकुमारी** : किस तरह बजती है ? (नं० 2 घंटी बजाता है । नं० 1 उसकी ओर क्रोधभरी दृष्टि से देखता है ।) लाओ लाओ मुझे बजाने दो । (घंटी बजती है ।) ओह ! कैसी मधुर आवाज आती है ।

**नं० 1** : राजकुमारी, अब आप राजाजी के पास चलो ।

**राजकुमारी** : नहीं, मुझे महल में नहीं रहना है । वहां तो मेरे प्राण निकल जाते हैं । मैं तो यहीं पर घंटी बजाया करूंगी । (घंटी बजाती है ।) कैसी मधुर आवाज आती है ।

**छ** : मुझे तो भोजन करना है । मुझे जोर से भूख लगी है ।

**राजकुमारी** : अरे खाने का तो प्रबंध हो जाएगा । मैं अपना सारा खाना तुम्हें दे दूंगी । मैं तो अब कभी खाना नहीं खाऊंगी । मुझे तो बस यह एक ही वस्तु चाहिए—घंटी । (घंटी बजाती है) वाह ! (ब के पास जाकर) तुझे घंटी बजानी है । ले बजा, मजा आएगा ।

**ब** : नहीं, मुझे तो नींद लेनी है । नींद लेने पर ऐसा आनंद आता है ।

**राजकुमारी** : नींद ? छी···छी···मुझे तो इससे नफरत है । बिस्तर पर पड़ा रहना बिल्कुल उकता देने वाली बात है । अब कभी नींद लेऊंगी ही नहीं । मैं तो बस घंटी बजाया करूँगी ।

**नं० 1** : राजकुमारी, अब राजाजी के पास चलो !

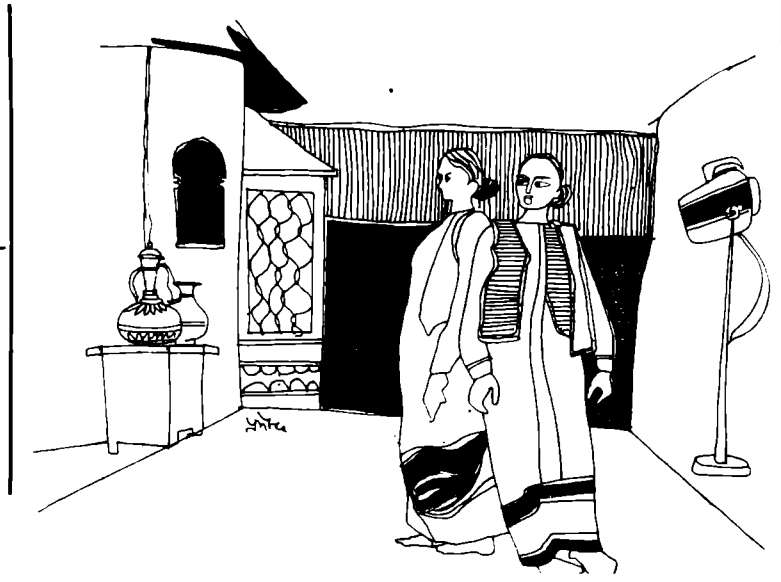
**राजकुमारी** : ऊं हूं । तुम्हें जाना हो तो जाओ । मुझे नहीं चलना है ।

**नं 1** : लेकिन राजाजी की आज्ञा है । हमें जल्दी से उनके पास पहुंचना चाहिए । (छः को अपनी ओर खींचता है ।) चल, आगे हो हरामखोर !

**च** : अरे, मुझ मरे हुए को क्यों घसीट रहे हो ?

**ब** : इसे छोड़ दो । यह तो नहीं जाएगा ।

**नं० 1** : यह नहीं जाएगा, लेकिन मैं इसे छोड़ने वाला नहीं हूं ।



इसे तो राजाजी के सामने हाजिर करना ही है।

(झटका देकर खींचता है।)

**ब** : अरे, छोड़ दो भले आदमी। इसे जैसे करना हो वैसे करने दो।

**राजकुमारी** : हां, यह सच कह रहा है। इसे जैसा करना हो वैसे करने दो। जिसे जैसा करना हो, वैसे करने देना चाहिए। मसलन मुझे घंटी बजानी है। (घंटी बजाती है) कैसी मधुर आवाज है। (ब की ओर देखकर।) है न मधुर ?

**ब** : आराम से लंबा लेटकर नींद लेने जैसा कुछ नहीं है।

**राजकुमारी** : तुम्हें नींद लेनी पसंद है क्या ? मुझे उससे उक्ताहट होती है। पर तुम्हें नींद लेनी हो, तो लो। जिसको जैसा करना हो उसे वैसा करने देना चाहिए। मुझे तो घंटी बजानी अच्छी लगती है। (घंटी बजाती है) फिर (छ के पास जाकर।) तुम्हें क्या पसंद है ?

**छ** : मुझे ? फिलहाल मुझे तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। इतने जोर की भूख लगी हैं कि भूख के मारे प्राण ही निकल जाएंगे।

**राजकुमारी** : भूख ! भूख ! भूख ! तुम्हें भूख बहुत पसंद है ?

**छ** : भूख किसे पसंद है ? अरे, यह तो बर्दाश्त भीं नहीं होती है। इसलिए तो खाना है। कोई खाना दो मुझे। (जोर-जोर से चिल्लाता है।) कोई मुझे खाना दो—कोई मुझे खाना दो—मैं मर जाऊंगा। कोई मुझे खाना दो।

(छ की आवाज बंद होती है। एक-दो क्षण की स्तब्धता के पश्चात् तुरंत हीं राजकुमारी घंटी बजाती है।)

**राजकुमारी** : एक को नींद लेनी है, एक को खाना खाना है, मुझे घंटी बजानी है। (नं० 2 की तरफ देखकर।) अरे तुम्हें क्या करना है ?

**नं० 2** : मुझे ? राजकुमारी, मुझे बीड़ी पीनी है।

(राजकुमारी नं० 1 की ओर देखती है।)

**नं० 1** : हां, राजकुमारी ! हमें तो बीड़ी पीनी है। दो घंटों से पी नहीं है।

**नं० 2** : बहुत तलब हो रही है।

**राजकुमारी** : कहां है बीड़ी ?

(नं० 2 बीड़ी निकालता है। छः जोर से चिल्लाता है : "मुझे भूख लगी है, कोई खाने को दो। मैं मर जाऊंगा।" चिल्लाना बंद होता है तब तक नं० 2 और नं० 1 बीड़ी सुलगाते हैं और पीने लगते हैं।)

**राजकुमारी** : (आश्चर्य से) अरे लाओ, लाओ मुझे भी दो। मुझे भी पीनी है।

**नं० 1** : तुम्हारे से पी नहीं जाएगी, राजकुमारी।

**राजकुमारी** : अरे, कैसे नहीं पी जाएगी ? तुम्हारे से पी जाएगी, और मेरे से कैसे नहीं पी जाएगी। लाओ मुझे भी दो बीड़ी। जल्दी से लाओ।

(नं० 2 राजकुमारी को बीड़ी देता है। राजकुमारी मुंह में बीड़ी रखती है। नं० 1 दियासलाई जलाता है और बीड़ी को सुलगाता है।)

**नं 2** : राजकुमारी, फूं खींचो ! अंदर ! हं, बिल्कुल ठीक है। अब सुलगी। खींचो।

(राजकुमारी एक-दो बार खांसती है। फिर भली-भांति धुंआ निकालती है।)

**राजकुमारी** : अरे वाह ? इससे तो मुंह से बहुत धुंआ निकलता है। यह तो बड़ा मजा आ रहा है। (बीड़ी पीती है, धुंआ निकालती है तथा बड़ी प्रसन्न-मुद्रा में इधर-उधर घूमती है। इसी बीच छ जोर से चिल्लाता है : 'मुझे कोई खाने को दो।' छ की आवाज बंद होती है। वह ब के पास जाती है।) तुम्हें पीनी है बीड़ी।

**ब** : मुझे तो लेटकर नींद लेनी है।

**राजकुमारी** : (छ के पास जाकर) तुझे पीनी है बीड़ी ?

**छ** : (जोर से) मुझे तो भूख लगी है। मुझे कुछ खाने को दो। मुझे कोई खाना दो।

(छ लड़खड़ाकर नीचे गिर पड़ता है। नं० 1 के हाथ से छ का हाथ छूट जाता है।)

**नं० 1** : अरे पाखंडी, खड़ा हो। चल, तुझे राजाजी के सामने जिंदा हाजिर करना है।

**नं० 2** : (साइकिल नीचे रखकर छ की जांच-पड़ताल करते हुए) अरे, यह तो मर गया लगता है। इसकी नाड़ी बिल्कुल नहीं चल रही है।

**राजकुमारी** : (बीड़ी का धुंआ निकालते हुए) मर गया ?

**नं० 2** : हां, बेचारा भूख के मारे मर गया।

**राजकुमारी** : (आश्चर्य से) कैसे मरा जाता है ? मुझे भी मरना है।

(राजकुमारी नीचे गिर पड़ती है।)

**नं० 1** : अरे यह क्या हुआ ? हम राजाजी को क्या जवाब देंगे ? चलो, भाग निकलें यहां से।

(नं० 1 और नं० 2 भाग जाते हैं।)

**ब** : मुझे तो नींद आ रही है। चलो लेटकर सो जाऊं। (नीचे बैठकर शरीर को लंबा करता है।) इस तरह सोने की बात बड़ी विचित्र है ! वाह ! वाह ! बड़ा आनंद आ रहा है। अब तो कभी उठना ही नहीं है न।

(थोड़े समय के शांत वातावरण के पश्चात अचानक राजकुमारी खड़ी होती है।)

**राजकुमारी** : अरे वाह ! मरने में भी कैसा आनंद आता है। (नीचे गिर पड़ती है। कुछ सैकंड के बाद फिर खड़ी होती है।) वाह ! वाह ! कैसी आनंद की बात है। मर जाने में कैसा आनंद आ रहा है।

(राजकुमारी नीचे गिर पड़ती है।)

अनुवाद : कन्हैयालाल भाटी

(पृष्ठ 13 का शेषांश)

## समकालीन रंगमंच : एक पड़ताल

कारण नहीं कि हिंदी के रंगकर्मियों को गर्दन टेढ़ीकर ऊंची इमारतों में बड़े ओहदों पर बैठे रंगहीन दृष्टि वाले लोगों की प्रशंसा और अनुमति का खुदगंज होना पड़े। बंगला और मराठी का रंगमंच आज इसीलिए अधिक समृद्ध है क्योंकि वहां इसकी जड़ें जन जीवन के बीच जमीं हैं।

एक बात और। रंगमंच की गुणवत्ता व उसकी सृजनात्मकता को धार देने में रंगनिर्देशकों का जबर्दस्त हाथ है। इन निर्देशकों में ब०व० भारन्त, राजेन्द्रनाथ से लेकर बंसीकौल, शशांक बहुगुणा तथा मुद्राराक्षस आदि के नाम आसानी से रखे जा सकते हैं। यहां हबील तनवीर का उल्लेख न करना रंगमंच के साथ एक तरह से ज्यादती होगी। हबीब तनवीर का अपना विशिष्ट मुहावरा है—लोक नाट्य, वह भी छत्तीस गढ़ी। कहा जा सकता है कि यह भाषा सम्प्रेषण में बाधा डालती है। यही क्या किसी भी लोक भाषा पर अधिक बल देने का यह खतरा होता है। किंतु मैं ऐसा नहीं समझता क्योंकि नाटक दृश्य होने के साथ अभिनेय कला है। और कोई भी चाक्षुष या अभिनेय कला में भाषा संप्रेषण में अधिक बाधक नहीं होती है। क्योंकि आप कलाकार की मुद्राओं, गतियों आदि से उसका पूरा भाव अच्छी तरह ग्रहण कर लेते हैं।

यह सोचने पर कुछ अजीब-सा लगता है कि समय के लंबे अन्तराल के बाद भी हिंदी रंगमंच कोई चर्चित अभिनेता नहीं पैदा कर सका जो कि मंच पर टिकता। जो रंगकर्मी चर्चित हुए वे फिल्म की शरण में सीधे जा लगे। मसलन अमोल पालेकर, गिरीश करनाड। दिल्ली के रंगकर्मियों में मनोहर सिंह एक ऐसे अभिनेता हैं जो अपनी अलग पहचान रखने के बाद भी फिल्म के आकर्षण में अभी तक नहीं फंसे हैं। एक सच्चे रंगकर्मी के मानिन्द वह आज भी रंगमंच को पूरी तरह समर्पित हैं। 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' भी अब सांचे में ढले एक जैसे रंगकर्मियों को उत्पन्न करने वाली मशीन में तब्दील हो चुका है। इन खतरों के बावजूद हिंदी रंगमंच संभावनाओं से अब भी खाली नहीं है।

(पृष्ठ 24 का शेषांश)

## राधेश्याम कथावाचक

लात मारने का इरादा करके भी तुम लात नहीं उठा सके। शराब ने ऐसी हालत कर दी है तुम्हारी।" यह देखकर सब लोग गद्गद हो उठे।

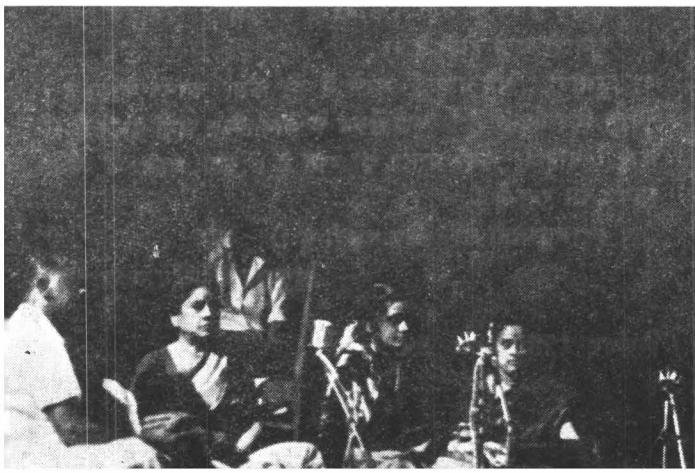
**मालवीय जी और मोतीलाल नेहरू भी प्रशंसक :** राधेश्याम जी के नाटक **वीर अभिमन्यु** का एक सीन सुनकर पंडित मदन-मोहन मालवीय ने उनसे कहा था, "जब स्टेज हो, तो मुझे भी दिखाना।" साथ ही यह भी कहा कि "संस्कृत में नाटकों का भंडार है, संस्कृत पढ़कर उसके नाटकों का अवश्य अध्ययन करना।"

और यह सत्य है कि मालवीय जी उनके नाटक देखने दो बार गए। वैसे, वह कभी किसी पेशेवर नाटक कंपनी में नाटक देखने नहीं जाते थे। **श्रवणकुमार** नाटक का उद्घाटन उन्हीं के कर-कमलों द्वारा हुआ।

इसी प्रकार, वह दिन भी आया जब पंडित राधेश्याम ने अपने नाटक **ईश्वर भक्ति** का उद्घाटन दिल्ली में मोतीलाल नेहरू से करवाया। मंडवा लालकिले के सामने गौरीशंकर मंदिर (पत्थर वाला कुंआ) के पास बनाया गया था। मोतीलाल जी तब कांग्रेस के सभापति थे। राधेश्याम जी के अनुरोध पर वह अपने इलाहाबादी स्वभाव के अनुसार दस-बारह साथियों सहित आए। साथ में सरोजनी नायडू भी थीं। नाटक इतना सुन्दर था कि मोतीलाल जी आए थे आधे घंटे भर के लिए, पर अपनी अपनी पार्टी सहित बैठे रहे रात के दो बजे तक। इस प्रकार जिस बालक ने आनंद भवन में एक मास तक कथा सुनाकर मोतीलाल नेहरू की सेवा की थी, उसी बालक ने बड़े होकर चंद घंटे अपना नाटक दिखाकर उनका मनोरंजन किया।

पंडित जी को नाटक से ज्यादा कमाई कथा में हुई और कथा व नाटक से भी ज्यादा रामायण के प्रकाशन से। उनकी उर्दू और हिंदी में छपी हुई 'दोबोला' छंद की यह रामायण घर-घर में पढ़ी जाती थी।

पंडित राधेश्याम ने हिंदी की बहुत सेवा की, धार्मिक नाटक लिखकर और कथा कहकर। अंत में उन्होंने फिल्म जगत में भी काम किया और खूब नाम कमाया।





# अभिनेता

। किसलय वंद्योपाध्याय ।



एक समय के गुजर जाने के बाद
माथे पर गहराती लकीरों में
और कुछ जोड़कर
हाथों पर हनु की हड्डियों
को गढ़ाकर
खोने की कोशिश में, अतीत में
कर देता है विस्मृत आज को
और फिर
आज की उपलब्धियों को खोकर
झल्लाहट से बिफरकर
निकल आता है शालीन चेहरे
के नकाब से !

तमाम उम्र मुखौटे के पीछे बिताकर
अभिनय की पराकाष्ठा पर खरे
उतरकर
एक समय बाद
बुढ़ा जाता है अभिनेता
गले की रगें उभारकर भी
उद्‌गार हो नहीं पाते हैं ओजस्वी
और मुखौटे को कील पर टांगकर
अभिनेता
खो जाता है विस्मृति के सागर में ।

एक समय के गुजर जाने के बाद
अतीत और भविष्य के मध्य
रह नहीं जाता है वर्तमान
लेकिन अतीत को समेटकर
वर्तमान के सहारे
होते है तमाम काम भविष्य के लिए

बिफराहट / सिर्फ
जोड़-घटा का एक छोटा-सा सवाल
जिसमें गलती बहुत हो चुकी होती है
और उसका अहसास
सिर्फ, अंत में पहुंचकर ही हो पाता है
तमाम उपलब्धियां, बने बिगड़े संबंध
चुनते हैं तुममें से
अपनी अपनी आवश्यकताएं
पा जाता है, उसमें से कोई भी
कभी-कभी अपना भविष्य
नकारकर तुम्हारा अतीत
तुमको लगते हैं सुखद बनते हुए संबंध
और एक समय के निकल जाने
के बाद
समेटकर अपने खुद को

लगाते हो हिसाब / तो···
गलती बहुत पहले हो चुकी होती है

एक समय के गुजर जाने के बाद
एक समय में एकत्रित किए गए
अभिधान के चुनिंदे शब्द
जेबों से निकालकर
फेंक देना चाहते हो समाज के
मुंह पर
लेकिन सिर्फ गला खंखारकर
किसी दूर परछाई से
माँग पाते हो एक गिलास पानी
और थरथराते होठ
जज्ब करते हैं
पानी में निहित तमाम ठंडेपन को !



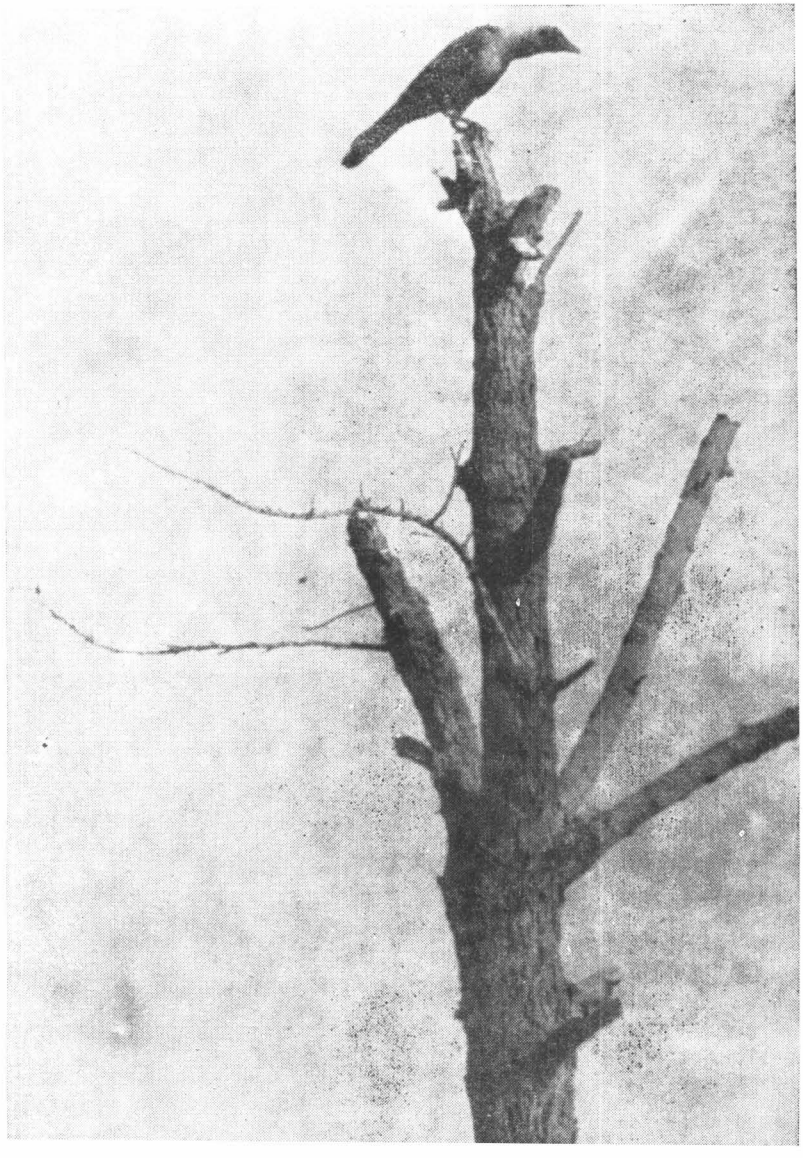
# | रात, रोशनी और बरसात |

अंधेरी रात में
तेज बारिश हो रही है
मुझे नींद नहीं आती

कमरे में कई लोग हैं
मेरी पत्नी, मेरे बच्चे
कई सामान हैं
टेबुल, कुर्सियां, किताबें, तस्वीरें
और मटमैली रोशनी के साथ
धुंआ उगलने वाली एक पुरानी
ढिबरी
बाहर लगातार पानी बरस रहा है
रात जम रही है
और मैं जाग रहा हूँ
मुझे नींद नहीं आती

सभी सोए हैं,
बच्चों के चेहरों पर मासूमियत
पत्नी के चेहरे पर बेफिक्री
दिन-भर के काम के बाद
थकान मिटाने का सुख
और मैं जाग रहा हुं
कभी दीवारों को पढ़ता हूं
कभी तस्वीरों को
कभी पत्नी की अधमुंदी आँखों को

जी करता है
धुंआँ उगलने वाली इस ढिबरी की
रोशनी में
अपनी हथेलियों को भी पढ़ूं
जी करता है






# दृश्यांतर

दीवारों पर टंगी उन तस्वीरों को
नोच दूं
जिनमें मेरे सपने कैद हैं
जी करता है,
बाहर बरसते पानी को रोक दूं
रात के सीने को
अपने नाखूनों से फाड़ दूं
और उसके पीछे दबी हुई सुबह
खींच लाऊं
मगर यह सब नहीं होता
आंखों के सामने
घूमने लगती हैं दवा की शीशियां,
पत्नी के पेटीकोट और ब्लाउज,
घर में नोनिआई दीवारें
रसोई के चूल्हे
और राशन की दुकानें
बगल के कमरे में सोए
भाई का ताँबई चेहरा,
(जो असमय ही बूढ़ा हो गया)
चार साल पहले मरी मां का
झुर्रीदार चेहरा
(जिस पर कई शताब्दियों का
इतिहास लिखा है)

**विजेंद्र अनिल**

और अगल-बगल रहने वाले
दर्जनों पड़ोसियों के शोर-शराबे,
चीखें
जिनमें समय की हर मार दर्ज है
सब कुछ मेरी आँखों में तैरता है
पानी बरस रहा है
और रात गहरा रही है
क्या हो गया है मुझे ?
आखिर किसने चुरा ली है
मेरी आंखों की नींद ?
कहां-कहां भागता है मन ?
किन-किन घाटियों और गुफाओं में
घूमती हैं आँखें ।
कभी समूचा ग्लोब तेजी से घूमने
लगता है
कहीं धरती, कहीं पहाड़
कहीं सागर, कहीं नदियां
कहीं हिमालय, कहीं हिरोशिमा
कहीं साइबेरिया, कहीं चीनी दीवार
कहीं अमेरिका, कहीं वियतनाम
कहीं रूस, कहीं अफगानिस्तान
जैसे सब टकराने लगे हैं
एक दूसरे से

कभी एक पूरा महादेश
आंखों में उतर आता है
कभी एक देश गुर्राता है भेड़िये की
तरह
झपटता है बाज की तरह
दूसरे गले से निकलती है चीख
जैसे मेमने के टेंटुए को
दबा रहा हो कोई भेड़िया

कभी आकाश में कौंधती है बिजली
चाँद के चेहरे पर उतरता है यान
मंगल की सतह पर टहलता है
यंत्रपुरुष
कभी क्यारी में खिलते हैं गुलाब
घाटियों में गिरती है बर्फ

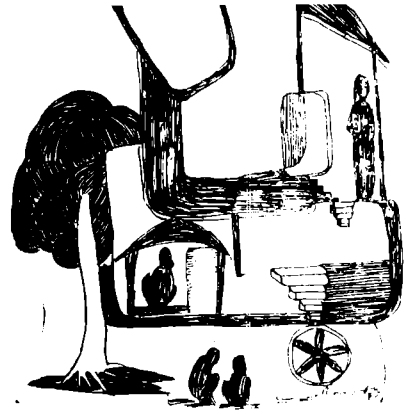
सागर में आता है तूफान
खदानों में घुसता है पानी
मरते हैं मंजूर
चीखती-चिल्लाती हैं माताएं
जवान बेवाएं
मासूम बच्चे

कभी कानों में घर-घराने लगती हैं
मशीनें
सड़कों पर रेंगने लगते हैं
दो पैरों वाले जानवर
एक हाथ में हथौड़ा या छेनी या
फावड़ा
और दूसरे में टिफिन का डिब्बा थामे
पावों में लपेटकर



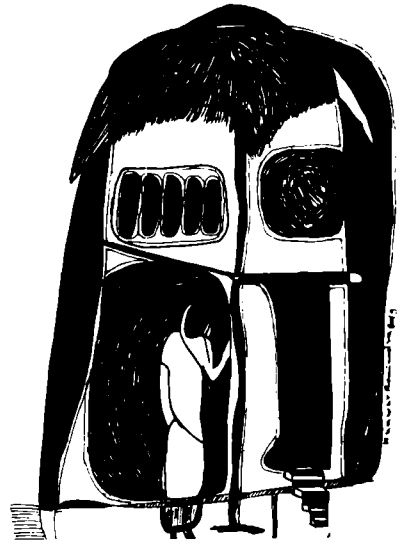

जूट की मोटी-मोटी पट्टियाँ
सड़क पर गिराते हैं कोलतार
फिर गिट्टियाँ
पहाड़ों के पेट में होता है विस्फोट
टूटती हैं गिट्टियां

खदानों में दरकती है
कोयले की बड़ी-बड़ी चट्टानें
···और तब बदलता है पर्दा
सामने खड़ी है एक झोंपड़ी
एक टूटी खाट पर लेटा है जवान
बेटा
सिरहाने बैठा है बूढ़ा बाप
पैताने बैठी हैं माँ और पत्नी



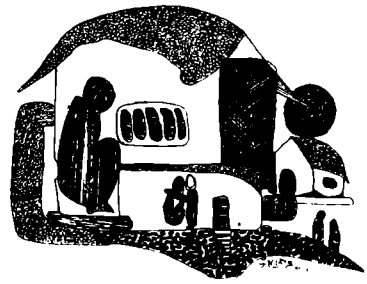
बेटा करवट बदलता है
दर्द से कराहता है
बाप पूछता है—'कहां चोट है, बेटे?'
मां चीखती है—
'क्या हो गया मेरे लाल को ?'
पत्नी सिसकती है—'एक बार देखो,
मैं हूं तुम्हारी रधिया ।'
मगर जवान नहीं देखता,
नहीं बोलता
रह-रहकर चिहूंकता है
'खांची···कुदाल···ईंट,
मकान···सेठ···रुपए···तिजोरी···
मां···बापू ··रधिया !'

पर्दा फिर बदलता है
अब मैं बच्चों के बीच हूं
वे मासूमियत से पूछते हैं
'पापा, दशहरे में
हमारी नई कमीजें बनेंगी न !
पापा, छुट्टियों में हमें शहर
ले चलोगे न
हम सिनेमा देखेंगे !'



जवाब देती है पत्नी—
'तेरे पापा सौदागर हैं बेटे,
रात भर जागकर पैसों का हिसाब
करते हैं
हमें तो अब यहीं, मरना खपना है,
इसी अंधेरी खोह में
शहर और सिनेमा की चर्चा
किसी
दूसरे जन्म में करना।'
बरामदे में बैठे भैया गुर्राते हैं—
'सारा मकान हिल रहा है,
रात-भर घरों में पानी टपकना है
और इन्हें सूझता है शहर।
इन्हें चाहिए सिनेमा।'
मैं किससे बोलूं ?
किसे दूं जवाब ?
कहां है कोई ऐसा कैमरा
जो दिल की धड़कनों का
फोटो खींच सके ?
कहाँ है कोई ऐसी मशीन
जो मेरी आंखों में बनती-बिगड़ती
तस्वीरों को संजो सके ?
कहाँ है कोई ऐसा चिराग
जो इस अंधेरी रात में
चारों ओर रोशनी की तेज लहर
बिखेर दे ?

वे कहते हैं—'किसी ईश्वर की
तलाश करो'



लोग शताब्दियों से एक न एक
ईश्वर की दुहाइयाँ देते हैं
मेरे सामने तो हर ईश्वर की
एक एक नंगी तस्वीर है
सबके दामन पर
एक-दो नहीं, सैकड़ों दाग हैं
सबके चेहरे पर
एक-एक कांटेदार गाँछ है
किसके हवाले करूं अपने आप को ?
किसके हवाले कर दूं
अपने बच्चों के चेहरों पर खिले
टेसू और कचनार के फूलों को ?
किसके पंजों में डाल दूं
मां की आंखों में उगे इंद्रधनुष को ?
भाई की अतृप्त आकांक्षाओं को
और पत्नी की बेबस चितवन को ?

...एक बार और
बदलता है पर्दा
फिर घूमने लगती हैं वे झोंपड़ियां
जितके भीतर रात-भर फुसफुसाहटें
होती हैं
और सवेरे उनके उनके आसपास
बिछा दी जाती हैं बारूदी सुरंगें
फिर आंखों में नए-नए चित्र
उभरते हैं
हरी गाड़ियां, हरी वर्दियां
बंदूकें, राइफलें, सीटियां
कनफुस्कियां, अफवाहें
और ढेर सारी बातें

और फिर बारिश तेज हो जाती है
ढिबरी का तेल अब खत्म हो चला है
वह सिर्फ धुंआ उगल रही है
कमरे में अंधेरा बढ़ता जा रहा है
बच्चे केंकिया रहे हैं
पत्नी कुनमुना रही है
और मैं एकटक निहार रहा
हूं छप्पर
मुझे नींद नहीं आती
आँखें पिरा रही हैं
बाहर बरसात बर्फ की तरह
पिघल रही है
भीतर, रात मोम की तरह
जम रही है
रोशनी धुंआ उगल रही है
क्या हनुमान ने फिर
निगल लिया है किसी सूर्य को
या कि यह सुबह से पहले का
सन्नाटा है ?

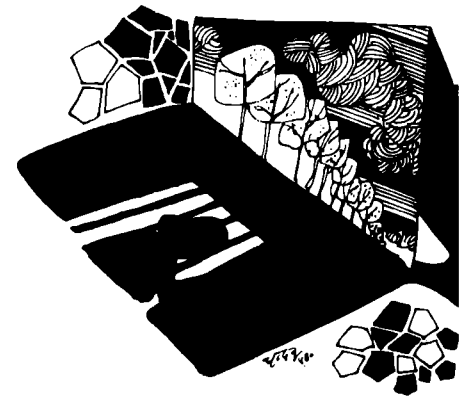
●

**रंगमंच के ज्यादातर निदेशक हिंदी भाषा और हिंदी से बिलकुल अपरिचित हैं। अधिकांशतः नाटक मात्र की गहरी समझ से दूर हैं। वे अक्सर किसी नाटक की पहचान इसलिए भी कर सकते हैं कि उसकी किसी दूसरे ने तारीफ की। दूसरी भाषाओं के भी जो गहरे रचनात्मक नाटक हैं, उन्हें यह निदेशक समझ नहीं पाते।**

**—मुद्राराक्षस**

**बात बोलेगी ....**

# काव्य-मंचन की प्रासंगिकता



**महेश दर्पण**

श्रव्य को दृश्य की ओर ले जाने के पार्श्व में, उसे अधिक संप्रेषणीयता देने की बात ही प्रमुख होती है। संप्रेषणीयता में अभिवृद्धि की दृष्टि से जब हम कविता पर प्रयोग करते है, तब दो विधाएं इस दिशा में कार्य करती हैं—चित्रों का माध्यम तथा नाटकीय मंचन अर्थात् रंगमंच का माध्यम।

यह एक सुखद स्थिति है कि दोनों ही माध्यमों का प्रयोग आरंभ हो चुका है। जहां तक चित्रों के माध्यम का प्रश्न है, "प्रयास" द्वारा दो वर्ष पूर्व आर० एम० अनजान की एकल चित्र प्रदर्शनी का आयोजन—**"कविताएं अब दृश्य हैं,"** एक सफल प्रयोग रहा। इस प्रदर्शनी में अनजान ने **असाध्य वीणा (अज्ञेय)**, **अंधेरे में** (मुक्ति बोध), **चुका भी नहीं हूं मैं** (शमशेर), **मुनियादी** (धर्मवीर भारती), **पानी की पुकार** (विद्या निवास मिश्र), **शब्द दंश** (जगदीश गुप्त), **मछली चर** (विजय देव नारायण साही), **मुक्ति प्रसंग** (राजकमल चौधरी), **आत्महत्या के विरुद्ध** (रघुबीर सहाय), **कुआनो नदी** (सर्वेश्वर) सहित लगभग बत्तीस कवियों की विशिष्ट रचनाओं को लिया था। कविता की चैत्रिक संभावनाओं की दिशा में यह पहला ही प्रयोग हो, ऐसा नहीं था। इससे पूर्व भी अनजान द्वारा ही **"कोई नाम नहीं"** विजय राम की लंबी कहानी( पर चित्र-प्रदर्शनी आयोजित की जा चुकी थी।

कविता को दृश्य बनाने की दिशा में जहां तक नाटकीय मंचन का सवाल है, यह कहानी की अपेक्षा दुरूह कार्य है। दरअसल, जब हम कविता पढ़ते या सुनते हैं, तब उसे देखने-समझने और महसूसने का एक खास अंदाज होता है।...और होता है एक विशिष्ट अनुभव। संभवतः यह कार्य सन् 1976 में, रायपुर में "रचना" द्वारा पहले पहल किया गया था। इस आयोजन में **श्रीकांत वर्मा** की कविता—**"जोसफ अब्बू कुआं"** तथा **धूमिल** की कविता—**"मोतीराम,"** की प्रस्तुति (नाटकीय मंचन) को भरपूर सराहना मिली थी। तब से आज तक बहुत-सी कविताओं का मंचन हो चुका है।

प्रश्न यह है कि कविताओं के मंचन की दिशा में हम कितने ईमानदार रह पाते हैं।...और यह कि नाटकीय मंचन के दौर में कहीं कविता की मौलिकता घट तो नहीं गई; कविता का अपना मिजाज कहां तक बरकरार रह पाता है। सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि कविता के "कंटेंट" में से "विजुअल्स" को पकड़ने के प्रयास में हमारी दृष्टि कहां तक ठीक काम कर सकी है? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम कवि के बड़े नाम से आतंकित हो बैठे हैं!

उदाहरण के लिए, **अज्ञेय** की कविता के नाटकीत मंचन के दौरान हमें यह ध्यान में रखना होगा कि 'अज्ञेय' के बिम्ब और प्रतीक बहुत मधुर और संवेद्य होते हैं। 'अज्ञेय' का कवि अपने पाठक को रिझाने के लिए, उन्हें सम्मोहित करने के लिए ही अपनी सृजनात्मक ऊर्जा का प्रयोग करता है। प्रायः वह सामाजिक यथार्थ से ठकराने के स्थान पर अपने आस-पास की "डिटेल्स" में रसमयता ढूंढ़ता है।...और ऐसा मात्र इसलिए होता है, क्योंकि 'अज्ञेय' कविता के लिए सामाजिक द्वंद्वों की पहचान उतनी जरूरी नहीं समझते, जितनी कला की स्वायत्तता की प्रतिष्ठा।...यहां यह समझ लेना भी जरूरी है कि ऐसी कविता की रचना सामाजिक द्वंद्वों की उष्मा और टकराहट से हटकर चलने के कारण संकुचित व्यक्तिवादी मनोवृत्ति की निर्जीव छवि सामने रखती हैं।

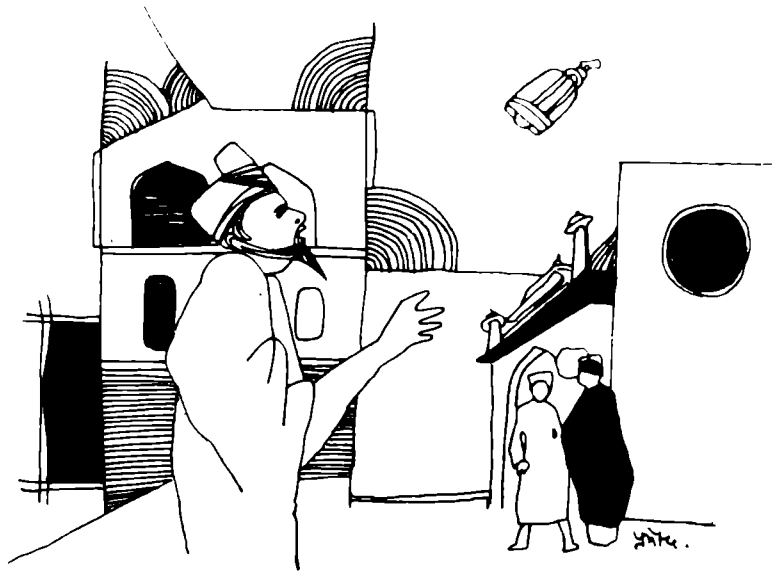
इसके ठीक विपरीत "मुक्तिबोध" की कविता अपने परिवेश की वास्तविक जीवन-क्रिया से प्रेरणा पाती है। उनकी यह प्रवृत्ति सामाजिक-संघर्ष की आवश्यकता पर जोर देती है। उनका कवि हमारा ध्यान यथार्थ के केंद्र में उपस्थित द्वंद्वों की ओर कराता है। यही कारण है कि वह साहित्य की सामाजिक सार्थकता पर विश्वास करते हुए विशाल पाठक-वर्ग से जुड़ने के साथ-साथ उनकी प्रेरणा का महत्वपूर्ण स्रोत भी बनता है।

कविता के नाटकीय मंचन की दृष्टि से कविता और उसकी यह व्यापक समझ नितांत आवश्यक है। नाटकीय मंचन के लिए चयन करते समय इस "समझ" की अहम भूमिका होती है। इसके अभाव में कविताओं का नाटकीय मंचन असंभव हो, ऐसा नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि नाटकीय मंचन का उद्देश्य इस समझ के अभाव में धरा-का-धरा रह जाता है। अतः मुक्ति-बोध और 'अज्ञेय' के फर्क को समझने के वैचारिक स्तर का कविता के चयन से सीधा संबंध है।

सामान्य तौर पर नाटकीय मंचन के लिए कविता में कुछ विशेषताओं की उपस्थिति आवश्यक है। इनमें प्रमुख हैं—

कविता का मुख्य ध्येय किसी विचार या भाव की प्रस्तुति करना हो; विचार या भाव की प्राप्ति के उद्देश्य को अर्जित करने के लिए वातावरण व संवाद उत्पन्न करने की शक्ति और आरोह-अवरोह व

(शेष पृष्ठ 39 पर)



# कथा-मंचन : संप्रेषण का प्रश्न

कुछ वर्षों से कविता, कहानी और उपन्यास को मंच पर लाने की दिशा में काफी काम हुआ है। यह एक प्रीतिकर अनुभव है। वैसे भी रंगमंच और अन्य कलाओं के बीच गहरा रिश्ता होता है। रंगमंच में संगीत, नृत्य, काव्य, गति, दृश्य-तत्व तथा आदमी की अनुकरण-क्षमता का रचनात्मक इस्तेमाल होता है। शायद यही कारण है कि हम अन्य कलाओं की अपेक्षा रंगमंच की ओर कुछ ज्यादा आकर्षित होते हैं।

जब कोई कला अनुभव-सत्य को पूर्णता में पकड़ने के प्रयत्न में अपनी क्षमता को दूसरी कलाओं की मदद से विस्तार प्रदान करती है और अपनी सीमाओं को तोड़ती है, तो कुछ नई और विशिष्ट संभावनाएं उजागर होती हैं। शायद इसी उद्देश्य को लेकर रंगमंच ने कहानी, उपन्यास और कविता के इलाकों में भी घुसना शुरू किया।

हर विधा की अपनी स्वभावगत भाषा, शिल्प और बुनावट होती है। किसी एक विधा को दूसरी विधा में स्थांतरित करने के लिए दोनों विधाओं के मिजाज और सँरचना की गहरी समझ जरूरी है। कहानी या उपन्यास को सिर्फ दृश्यों और संवादों में तब्दील कर देने से न तो कहानी नाटक बन जाता है और न ही कहानी का मंचन सफल हो सकता है, क्योंकि कहानी और नाटक की संरचना एक जैसी नहीं होती।

पिछले दिनों कथा-साहित्य की अधिकांश प्रस्तुतियां देखकर ऐसा महसूस हुआ कि रंगकर्मी या तो इस अंतर को अच्छी तरह जानते नहीं या जान-बूझकर रचनात्मक धरातल पर लाने की कोशिश नहीं करते। रंगमंच के लिए ऐसी दोनों ही स्थितियां अच्छी नहीं कही जाएंगी।

**विनोद**

यह सच है कि नाटक और कहानी या उपन्यास का अंतर्वस्तु मानव और उसका समाज है। लेकिन कहानी या उपन्यास में आदमी के अनुभव, कल्पना, स्मृति और सोच को शब्दों के जरिए पकड़ने की प्रक्रिया नाटक से कुछ अलग होती है। उपत्यास या कहानी में कथ्य को विवरणात्मक ढंग से बयान किया जाता है जिसमें ब्योरे ज्यादा होते हैं। नाटक में ऐसा कुछ नहीं होता। नाटक में कथ्य चाक्षुष भावभूमि पर गतियों, मुद्राओं और संवादों के घात-प्रतिघातों के माध्यम से संप्रेषित किया जाता है। कथा-साहित्य में निःशब्द या मौन स्थितियों के लिए भी शब्द के इस्तेमाल के बिना कोई चारा नहीं : लेकिन नाटक में तो कई जगह शब्द फालतू लगने लगते हैं और कहीं तो निःशब्द संसार को रचकर ज्यादा प्रभाव पैदा किया जा सकता है।

इस प्रकार, कथा-साहित्य का प्राण-तत्व शब्द है, जबकि नाटक में स्थितियां या घटनाएं और चाक्षूप प्रभाव। इसलिए कथा-स्थांतरण में रंगकर्मी कहानी या उपन्यास के शब्दों की जड़ों में छिपे द्वंद्व, सोच, संघर्ष और दृश्यात्मक बिंबों को अधिक-से-अधिक पकड़ने की कोशिश करता है। ज्यादा अच्छा होगा यदि हम कहानी या उपन्यास में छिपे उस द्वन्द्व, संघर्ष, सोच और दृश्यात्मक चित्रों को पकड़ें जिनकी कल्पना पाठक कहानी पढ़ते समय अपने मस्तिष्क में करता है। ऐसा करने पर प्रस्तुति ज्यादा सार्थक, रचनात्मक और प्रभावोत्पादक हो सकती है।

पिछले दिनों **देवेंद्रराज** के निर्देशन में **भीष्म साहनी** की तीन कहानियों (**यादें, चीफ की दावत और माता-विमाता**), **सबा बेदी** के निर्देशन में **कृष्णा सोबती** की चर्चित कृति **मित्रो मर जानी** और गोरखपुर में **श्रीलाल शुक्ल** के उपन्यास **राजदरबारी** की प्रस्तुति में ऐसी कुछ कोशिश की गई थी। यहां इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि कुछ कहानियों में कथ्य घटना-रहित, भाषा अत्यन्त काव्यात्मक और बारीक तथा कहानी की गति बहुत धीमी होती है। ऐसी कहानियों के मंचन में भाषा की अक्षुणताको बनाए रखना होगा। ऐसी कहानियों की नाटकीय स्थितियों में तब्दील करने से कहानी के

(शेष पृष्ठ 39 पर)

# आत्म-कथ्य

बिनय ने पहला विद्रोही के बारे में लिखा है—महाभारत में वक राक्षस का कथानक पढ़ा। कुछ दिन बाद अचानक एक दिन कुछ सोचते-सोचते ध्यान उस जनपद के लोगों की मानसिकता पर चला गया कि जिस किसी की बारी बक राक्षस के पास जाने की आती होगी, उसकी मृत्यु से पूर्व की मनःस्थिति कैसी होगी। महाभारत में ऐसी स्थिति का मानसिक अध्ययन नहीं है। इस पूरे प्रसंग में मृत्युनेव ने मुझे सबसे अधिक पीड़ित किया। मैंने कई स्थलों पर स्वयं को उस क्षण में रखकर देखा; अजीब दशा का अनुभव किया। एक बार तो रेल में सफर करते हुए मैंने कल्पना की कि एक्सीडेंट हो गया और सामने के डिब्बे का अंश झटके से मेरी तरफ आया, हाथ-पैर दब गए···बस क्या था, मुझे बहुत बेचैनी हुई, माथा पसीने से भीग गया। मैं हड़बड़ाकर उठा और डिब्बे में इधर-उधर घूमने लगा। बाद में यह भी सोचा कि ऐसे समाज में लोगों के रिश्ते कैसे हो गए होंगे! महाभारत में तो किसी सांस्कृतिक और संबंधगत संकट की अभिव्यक्ति नहीं है, पर मैंने उस सीमा में उसे सोचा और एक-दो स्थलों पर वह व्यक्त भी हुआ है। नाटक लिखना शुरू करते हुए राजनैतिक प्रसंग भी जुड़ गया। पहले ड्राफ्ट के बाद कुछ मित्रों के सामने पढ़ा—सुझाव आए और फिर दूसरा ड्राफ्ट बना। मैं यह नहीं कहता कि सुबास, प्रतोष, सत्यवती या संध्या के राजनीतिक और संबंधगत रिश्ते मिथकीय चेतना का वहन करते हैं—पर उनमें मानवीय सत्य व्यक्त करने की पूरी कोशिश की है। राजनीतिक स्तर पर विरोध की अगुआई करने वाला नायक जिस मूल्य चेतना से जुड़ा है, उसी की प्रतिच्छवि उसके वैयक्तिक संबंधों में भी होती है। इनमें मैंने आधुनिकता के नाम पर बोल्ड होने या ज्यादा छूट लेने की जरूरत नहीं समझी। एक स्थान पर सत्यवती कहती है: "महान अनुष्ठान में लगा व्यक्ति एक राग सूत्र को भी स्मरण करता रहे।" शायद महान अनुष्ठान और राग सूत्र की एकतानता ही इस रचना की मूल प्रेरणा रही है। (पहला विद्रोही की समीक्षा पृष्ठ 40 पर है)।

(पृष्ठ 37 का शेषांश)

## काव्य-मंचन

वाग्विदग्धता भरने की चेष्टा; सृजित वातावरण के अनुकूल स्थितियां व उसकी-सी भाषा शैली का प्रयोग; सहज व बोध गम्य प्रभावान्विति; नाटकों का-सा संघर्ष, चाहे वह आंतरिक हो या वाह्य!

कविताओं के नाटकीय मंचन में "ध्वनि" के माध्यम से विशेष प्रभाव पैदा किया जा सकता है। इस माध्यम का उपयोग भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत के उपयोग से किया जाता है। भाषा सरल भावाभिव्यंजक और अभिनेय होनी चाहिए। हर्ष, आनंद, विषाद आदि भावों के उभार के लिए ध्वनि का उपयोग संगीत के माध्यम से किया जा सकता है।

रंगमंच की दृष्टि से कविताओं को अभिनेय बनाने में आंगिक और वाचिक दोनों प्रकार की कला, परिस्थितियों को दर्शाने वाले दृश्य-साधन, पात्रों के व्यक्तित्व-सूचक परिधान व अलंकरण आदि प्रयोग में लाए जा सकते हैं।

कविता रंगमंच पर प्रस्तुत करने की नीयत से नहीं लिखी जाती, अतः यह स्वाभाविक ही है कि नाटकीय-मंचन के समय रंगनिर्देश व पात्र-व्यक्तित्व की कल्पना ही निर्देश कर सकता है। कुछ ऐसी स्थितियां भी हो सकती हैं जो दृश्य न हों, अतः ऐसी स्थिति में मंचन के पार्श्व में "श्रव्य" को ही प्रस्तुत करना होगा।

सुलझे हुए निर्देशन और अनुभवी अभिनय तथा कविता की सही समझ का उपयोग होने से, निश्चय ही कविता के नाटकीय मंचन के माध्यम से उसकी संप्रेषणीयता को विस्तार दिया जा सकता है। जरूरत इस बात की है कि हम नाटकीय मंचन करते समय प्रतिष्ठित या नए कवि का खेमा न बनाएं और अभिव्यक्ति की दिशा में विकासमान इस नई विधा को आगे बढ़ाएं।

(पृष्ठ 38 का शेषांश)

## कथा-मंचन

मूल अर्थ, भाव और अनुभव के फिसल जाने का खतरा बराबर बना रहता है। बेहतर होगा कि हम ऐसी कहानियों की भाषा को जस-का-तस रखकर उसे सिर्फ दृश्यात्मक पाठ के रूप में प्रस्तुत करें।

मसलन निर्मल वर्मा की ही कहानियां लें। एक ओर निर्मल वर्मा की कहानियों की संवेदना और भाषा बेहद बारीक व काव्यात्मक है; दूसरी ओर उनकी कहानियां घटना-रहित और स्लो मूवी की तरह धीमी गति वाली हैं। इसलिए निर्मल की कहानियों को नाटकीय स्थिति में परिवर्तित करने के बजाय दृश्यात्मक पाठ के रूप में पेश करना ज्यादा सार्थक और प्रभावोत्पादक होगा। लखनऊ में 'लकीस' का निर्मल वर्मा का कहानियों का मंचन 'अंकुर' की अपेक्षा उतना अधिक सफल नहीं रहा था, क्योंकि उसमें निर्मल की भाषा को महत्व न देकर नाटकीय बनाने की कोशिश की गई थी। जो लोग कहानी को पूर्णतया नाटक में रूपांतरण करने पर बल देते हैं, उन्हें शायद कहानी को दृश्यात्मक पाठ के रूप में प्रस्तुत करना अखरे, लेकिन उन्हें इस बात का खयाल रखना होगा कि कहानी का मंचन इसलिए किया जाता है, ताकि उसका प्रभाव दर्शक पर सीधा और तत्काल पड़े और कहानी या उपन्यास का व्यापक संसार भी प्रस्तुति में बना रहे। कहानी या उपन्यास के व्यापक संसार और सोच का रंगमंच की तकनीकी प्रविधियों में गला न घुट जाए, इस बात को न भूलना चाहिए। कहानी या उपन्यास को अनर्गल तरीके से मंचित करने से तो अच्छा यही होगा कि उसका मंचन ही न किया जाए; उसे सिर्फ पढ़ा जाए और सुना जाए।

# पौराणिक संदर्भों के आधुनिक अर्थ-संकेत/

रीतारानी पालीवाल

हिंदी में नए नाटकों का प्रकाशन नाट्य-रचना की दृष्टि से समृद्ध संभावनाओं का सूचक है। अपने वर्तमान के यथार्थ को नए नाटकों में 'वास्तवयन' के साथ रखने का खुला प्रयत्न तेजी पकड़ रहा है। सामाजिक-राजनीतिक जीवन के अनुभवात्मक तथ्यों को नया नाटककार रचना-धर्मिता के बदलाव के साथ रखने को मानो कटिबद्ध हो गया है। पौराणिक संदर्भों का उपयोग करना आज के नाटककार को साधन-रूप में ही इष्ट है और केवल वहीं तक वह आधुनिक भावबोध को व्यक्त करने में समर्थ है।

पौराणिक-ऐतिहासिक हाशिए से 'नया' उत्पन्न करना उतना ही सहज काम नहीं होता, जितना कि सरल दिखाई देता है। यही कारण है कि ढेर सारे पौराणिक-ऐतिहासिक कथानकों पर लिखे जाने वाले नाटक कम-से-कम 'तारक' नहीं बन पाए हैं।

**'पहला विद्रोही'** में **विनय** ने महाभारत की अत्यंत नाटकीय घटनाओं एवं सम्भावनाओं से पूर्ण कथा को चुना है तथा उसे आधुनिक जीवन-संदर्भों में नया अर्थ देना चाहा है। इस प्रयास में वह फिसलते तो हैं, किंतु स्वयं की बलि नहीं हो जाने देते। नाटकीय स्थितियों की पहचान उन्हें है, किंतु सार्थक रंग-योजना-दृष्टि और अपनी पाट्यालोचन-रंगालोचन में वह ठीक तालमेल नहीं बैठा पाए हैं। इसलिए **'पहला-सिद्रोही'** पहले नाटक की तमाम कमजोरियों को कराह के साथ सूचित करता है। गनीमत यही है कि कथा में कथ्य का प्रतीकत्व शक्ति के साथ उभरता है।

'महाभारत' के बकराक्षस की कथा को आधार बनाकर लिखा गया यह नाटक आज की राजनीतिक स्थिति पर सीधा व्यंग्य है, जिसमें सत्ता का सनीचर सभी को यह कहने के लिए विवश किए हैं "कोई क्या उपाय करे? राज्यतन्त्र निरंकुश है। वह छोटे-छोटे सामन्तों के सहारे जनता को आतंकित रखना चाहता है। ××× इस समूची व्यवस्था के बीच·····हमारा थोड़ा-सा विरोध या क्रोध क्या अर्थ रखता है?"

हर नया रचनाकार रचना-कर्म के स्तर पर व्यवस्था निरंकुशता को अनुभव के सहारे पाठक के समक्ष सहज रूप में रख पाना लेखकीय दायित्व का हिस्सा मानता रहा है। 'पहला विद्रोही' का लेखक अपने इस दायित्व के प्रति सजग है और यह सजगता ही नाट्यानुभूति में गरमाहट रखती है।

तीन अंकों में समाप्य 'पहला धिद्रोही' में महाभारत की कथा को समसामयिक संदर्भों में जोड़कर नई अर्थवत्ता प्रदान करने की बेचैनी लेखक में लगातार विद्यमान रही है। यह बेचैनी ही राजनीतिक 'चिन्ताओं' में बदलकर मानवीय जिजीविषा और अस्तित्व-मूलक प्रश्नों की तख्तियां नाट्यकृति में सीधे खड़ी करती है। किंतु नाट्य-सृजन के लिए जो प्रखर और सघन नाट्यानुभूति अपेक्षित है, वह नाटककार के पास कम है। यही कारण है कि कथा के विकास के दृश्यात्मक आयाम यहां अपने सघन एवं प्रगाढ़ रूप में प्रस्तुत नहीं हो सके हैं। यह कथा नाटक में सपाट ढंग से चलती है और कार्य-व्यापार की क्षिप्रता तथा कार्यान्विति का इसमें अभाव रहता है। नाटकीय आकस्मिकता और कौतूहल जन्य स्थितिमों से जैसी नाट्यभ्रांति उत्पन्न करनी चाहिए, वह नहीं हो पाती। यह स्थिति नाटकीय मोड़ के स्थलों को सहारा देकर खड़ी हो जाती है और संवादों की वैचारिक आहट चहलकदमी करती रहती है। इसलिए अन्तिम अंक में उसे बरबस आगन्तुक अथितियों की सृष्टि करनी पड़ती है जो जनपद वासियों को बकासुर से मुक्ति प्रदान करा सकें। इस तरह कथा का स्वरूप उन उपासना-प्रधान कहानियों जैसा हो जाता है जिनमें अन्त में भगवान आकर दुष्ट-दमन करते हैं और सभी के क्लेश हर लेते हैं।

इस नाटक की संरचना में अन्विति के बिखराव और प्रभाव की कमी द्वन्द्व के अभाव में उत्पन्न हुई है। बकासुर की कथा में अन्तर्वाह्य द्वन्द्व की बेहद सम्भावनाएं निहित हैं जिनका उपयोग लेखक प्रायः नहीं कर सका है। इस चूक ने कथा के प्रारम्भतत्व को झटका दिया है। आरम्भ में ही सत्यवती किस स्थिति में मिलती है, उसका तनाव नाट्य-स्थिति में नहीं फैल पाता। दर्दीली सूचनाएं देता हुआ नाटककार स्कूटर पर भागता-सा प्रतीत होता है और पाठक उस दर्द से सही तरह भीग नहीं पाता। उसका ग्रेमी सुवास भी घटना के मर्मांतक रूप में देर तक कराहता नहीं, जल्दी ही वह 'समझदार' हो जाता है—घटिया बुद्धिजीवी की तरह।

नाटक का समस्त आधार नाट्यभाषा पर टिका होता है—समस्त नाट्यानुभव उसी की सही पकड़ से नाट्यानुभूति में कलात्मकता पाता है। किंतु 'पहला विद्रोही' नाट्यभाषा की दृष्टि कमजोर पड़ता है। नई कविता के काव्यात्मक वाक्यांश विनय को घर पकड़ते हैं और उनसे छूट पाना सम्भव नहीं हो पाता।

नई भाषा ने नवीन संवेदनात्मक गुंजों को अर्थपूर्ण ढंग से कथ्य का साथ देते हुए जीवित रखा है और सामाजिक-राजनीतिक षड्यंत्र की सही पकड़ का रचनात्मक कौशल मौजूद होते से यह नाटक धैर्य बंधा देता है। व्यापक रंग-संकेतों के कारण स्थितियों में भराव रहा है। (विनय का आत्मकथ्य देखें पृष्ठ 39 पर)

---

**पहला विद्रोही :**
**विनय सन्मार्ग प्रकाशन, बेंग्लो रोड, दिल्ली-7, 10 रुपए।**

# दो नाटक : दो स्तर / अमरेंद्र मिश्र

**प्रयोगधर्मी नाटक :**

प्रयोगधर्मी नाटककारों में शाकरशेष का महत्वपूर्ण स्थान है। **एक और द्रोणाचार्य** भी एक प्रयोग नाटक है। इसमें द्रोणाचार्य को प्रतीक रूप में लिया गया है। द्रोणाचार्य जैसे गुरु आधुनिक युग में दुर्लभ हैं। लेकिन अपवाद स्वरूप आधुनिक युग में यदि एकाध द्रोणाचार्य हो जाएं, तो फिर उनकी परिणति क्या होती है ? इस नाटक में यही विषय उठाया गया है।

अरविंद कालेज में लेक्चरर है। वह सत्यनिष्ठ, ईमानदार और कर्तव्यपरायण है। इन्हीं गुणों के आधार पर वह अपनी अस्मिता को बेचने से बचाता है और अपनी इयत्ता, अपना आदर्श—अपना सब कुछ बनाए रखने की भरसक कोशिश करता है। एक बार उसने **द्रोणाचार्य** नाटक देखा था और उसके मस्तिष्क पर उसका चरित्र प्रभावी छाप छोड़ जाता है। वह अपने कालेज के प्रेसिडेंट के लड़के को परीक्षा में नकल करते पकड़ता है और रिपोर्ट करता है। प्रिंसिपल के लाख मना करने पर भी वह अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होता। अरविंद का दोस्त नन्दू उस पर दबाव डालता है कि वह अपनी ईमानदारी, अपना सिद्धांत और अपना आदर्श ताक पर रख दे और रिपोर्ट वापस कर दे।

अरविंद को चूंकि सचाई से प्रेम है, इसलिए वह निर्भीक है। एक बार विमलेंदु भी अरविंद की ही तरह उसी व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है। वह भी असफल हो जाता है। अरविंद की पत्नी लीला अपनी जरूरतों को मद्देनजर रलते हुए उसे भ्रष्ट व्यवस्था में खींचने की कोशिश करती है, लेकिन अरविंद इस सबको नकारकर, काटकर चलता है।

मध्य भाग में 'द्रोणाचार्य' नाटक के कुछ अंश प्रस्तुत किए गए हैं और नाटक द्रोणाचार्य के चरित्र से अरविंद के चरित्र को जोड़ता हुआ आगे बढ़ता है।

**सर्जन तत्व की कमजोरी :**

**कुसुम कुमार** का नाटक **ओम क्रांति-क्रांति** आधुनिक शिक्षा प्रणाली, शिक्षकों की शिक्षण-कार्य के प्रति उदासीनता और नई पीढ़ी की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों के उद्घोष का चित्रण करता है।

नई पीढ़ी की यह क्रांति किसी मूलभूत परिवर्तन के लिए नहीं है। क्रांति होती है—क्लास रूम में और वह भी बचकाने ढंग से।

मिसिज दानी, मिसिज पंत, मिसिज मंगला और मिस सिंह कालेज की लेक्चरर हैं और मेनका, अनू, थेलमा और मीना आदि छात्राएं। लेक्चरर क्लास लेने आती हैं और लड़कियों की चुहलबाजी आरंभ होती है।

वैसे संपूर्ण नाटक कालेज की लड़कियों और लेक्चररों के पारस्परिक तर्क-वितर्क के बीच चलता है। महत्व की बात कम ही दिखाई देती है। फिर भी जगह-जगह ऐसे प्रश्न आते हैं जो निश्चय ही विचारणीय हैं।

अच्छा होता, अगर इसी विषय पर शिष्ट तरीके से अच्छा नाटक लिखा जाता। यह सही है कि नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के बीच एक लंबा फासला है और वह जिंदगी के प्रत्येक क्षेत्र में है। यह भी सही है कि आज की, शिक्षा का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं। लेखिका का उद्देश्य भी बस इतना ही है। लेकिन सर्जन-तत्य की कमजोरी के कारण नाटक की बुनावट में शिथिलता आ गई है।

---

**एक और द्रोणाचार्य :**
**शंकर शेष; पराग प्रकाशन, दिल्ली-32; नौ रुपए।**

**ओम क्रांति-क्रांति :**
**कुसुम कुमार; नेशनल पब्लिशिंग हाउस; दस रुपए।**

# चूं-चूं का मुरब्बा / वीरेंद्र सक्सेना

**मणि मधुकर** के नाटक **दुलारीबाई** का प्रथम मंचन अनामिका (कलकत्ता) की ओर से कलामंदिर में 3 अक्तूबर, 1976 को किया गया था। अब यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है, जिसमें फ्लैप पर विभिन्न पत्रिकाओं से सम्मतियां उद्धृत की गई हैं। ये सभी सम्मतियां इतनी अधिक प्रशंसात्मक हैं कि नाटक के प्रति पर्याप्त उत्सुकता जाग जाती है। लेकिन पूरे नाटक को पढ़ने के उपरांत लगता है कि नाटक में ऐसा कुछ भी तो नहीं है जिसे अद्वितीय या अभूतपूर्व माना जाए।

यह ठीक है कि नाटक में थोड़ी व्यंग्यात्मकता और थोड़ा-बहुत हास्य भी है। यह पारसी रंगमंच की नौटंकी शैली में लिखा हुआ है। पात्रों के अनुसार अलग-अलग तरह की भाषा का भी प्रयोग किया गया है। स्थान-स्थान पर समकालीन राजनीतिक स्थिति के संकेत भी हैं। लेकिन कुल मिलाकर इसका कथ्य बहुत ही घिसा-पिटा और प्रभाव की दृष्टि से लगभग प्रभावहीन ही कहा जाएगा।

नाटक के बीच में अवश्य कुछ प्रसंग प्रभाव उत्पन्न करने में सफल रहे हैं। इस तरह के प्रसंगों में दुलारीबाई का पुराने जूतों के प्रति मोह या कल्लू भांड का राजा की नकल करने का प्रसंग महत्वपूर्ण है।

---

**दुलारीबाई :**
**मणि मधुकर, लिपि प्रकाशन दिल्ली; आठ रुपए।**

# आधुनिक कन्नड़ नाटक : यथार्थवादी रंग-शिल्प / —जयदेव तनेजा

आधुनिक कन्नड़ नाटक से हिंदी रंगमंच का पहला परिचय आद्य रंगाचार्य के नाटक **सुनो जनमेजय** के माध्यम से ही हुआ था। अब कन्नड़ के इस बहुचर्चित और वयोवृद्ध नाटककार के तीन और रंगनाटक हिंदी में प्रकाशित हुए हैं। हिंदी में पुस्तकाकार रूप में छपने वाले कन्नड़ के एकमात्र दूसरे नाटककार गिरीश करनाड हैं, जिनके **तुगलक ययाति और हयवदन** से हिंदी के दर्शक पाठक भली भांति परिचित हैं। हिंदी रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाले अन्य कन्नड़ नाटकों में आद्य का ही **स्वर्ग के तीन द्वार**, लंकेश का **परते** तथा कम्बार के **जो कुमार स्वामी** हिंदी रूप **ओर तोता बोला** (सत्यदेव दुबे) या तोता बोला (राजिंदरनाथ) उल्लेखनीय हैं।

विवेच्य पुस्तक में आद्य के तीन नाटक **मूक अभिशाप, प्रेम तिकोण** तथा **बदलते रिश्ते** संकलित हैं। तीनों नाटकों में तीन-तीन अंक हैं और क्रमशः सात, छह और सात पात्र। तीनों ही नाटक यथार्थवादी रंग-शिल्प में गठित हैं।

**मूक अभिशाप** अपने मन में पड़ी पाप की छाया को लोक सेवा से मिटाने की असफल कोशिश करते राय साहब की कहानी है। वह उनके बदले सात साल की जेल काटते बचपन के निरपराध मित्र की बेटी को अपनी बहू बनाते हैं और उसे अपनी सम्पत्ति का वारिस बनाकर तथा जनता की भलाई के लिए स्कूल, लायब्रेरी, अस्पताल, मंदिर वगैरह बनवाकर लोगों की नजर में देवता बन जाते हैं। परन्तु उनका अतीत और अंतरात्मा में दबा पाप उनका पीछा नहीं छोड़ता। पाप को स्वीकारे और उसका फल भोगे बिना उससे मुक्त होने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है। उस पाप के "मूक अभिशाप" का बोझ जीवन भर राय साहब को उठाना ही होगा, उसे छुपाए रखकर मुक्ति का कोई उपाय सम्भव नहीं है। इस अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और गहन विषय को नाटककार ने पूरी कुशलता से प्रस्तुत किया है। रहस्य की अन्तर्धारा और स्वप्न तथा यथार्थ के धूप-छांही वातावरण के कारण पाठक-दर्शक की जिज्ञासा अन्त तक बनी रहती है। बाहरी और भीतरी सत्य के गहरे अन्तर को पूरी नाटकीयता के साथ प्रस्तुत किया गया है। पिछले दिनों दिल्ली में 'दर्पण' की ओर से रवि शर्मा के निर्देश में **अभिशाप** के नाम से यह मंचस्थ किया गया।

कालिदास के **अभिज्ञान शाकुंतलम** को समकालीन परिवेश और बदलती हुई परिस्थितियों में नए ढंग से प्रस्तुत करने के रोचक प्रयास का नाम है **प्रेम त्रिकोण**। यहां पति को संदेह हो जाता है कि उसकी प्रेम निशानी खोई नहीं है, बल्कि शकुंतला ने अपने पूर्व प्रेमी प्रोफेसर को दे दी है। संबंध विच्छेद की सीमा पर पहुंचकर मामला एकदम उलट जाता है, क्योंकि अंगूठी अचानक घर में ही कहीं मिल जाती है और पति का शक दूर हो जाता है। परंतु आज की यह शकुंतला पति का घर छोड़कर तब तक के लिए पिता के घर चली जाती है, जब तक कि पति के मन में पत्नी के लिए सात्विकप्रेम और अटूट विश्वास न पैदा हो जाए।

**बदलते रिश्ते** में रचनाकार ने नई और पुरानी पीढ़ी के सोच-विचार और आचार-व्यवहार के अंतर को अत्यन्त मनोरंजक एवं प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्ति दी है। एक लड़की के माध्यम से बाप और बेटे के बदलते रिश्तों की विडम्बना और लगातार परिवर्तित हो रहे सामाजिक मूल्यों की गम्भीर समस्या को नाटककार ने अत्यंत सरलता, सहजता, रोचकता और हास-परिहास के साथ प्रस्तुत करने में अद्‌भुत सफलता पाई है।

नाटककार को अपने माध्यम का प्रत्यक्ष, व्यावहारिक और जीवन्त परिचय है और उसका स्पष्ट लाभ इन रचनाओं को मिला है। पढ़ने पर कहीं-कहीं कोई प्रसंग अथवा स्थिति अटपटी और अजीब भी लग सकती है, किंतु मेरा विश्वास है कि मंच पर वह अवश्य ही प्रभावी सिद्ध होगी।

बी० आर० नारायण का अनुवाद शाब्दिक अधिक है, रचनात्मक कम। इसमें अनेक स्थानों पर प्रवाह, स्पष्टता और उच्चारण की सुविधा का अभाव है। शब्द-अर्थ के उलझाव, वाक्य संरचना के दोष तथा प्रूफ की अशुद्धियों का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—शकुन्तला : (सिर उठाकर देखते हुए)कब आऊंगी, पूछ रही हो न? जिस दिन यदि एक बार में सचमुच अपने रास्ते में फिसलने पर भी आपको संदेह नहीं होगा, उस दिन मेरे लिए आपका प्रेम सात्विक हो गया है—यह दिखाने की शक्ति आने पर उस दिन आऊंगी। (पृष्ठ 149)

फिर भी साफ-सुथरे और स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने वाले इन तीनों नाटकों में आज की समस्याएँ, समकालीन परिवेश और आधुनिक चरित्रों के द्वारा पेश की हैं; इसलिए इन नाटकों के मंचन में अपेक्षाकृत कम साधन-सुविधाओं की जरूरत पड़ेगी और शौकिया नाट्य-संस्थाएँ इन्हें आसानी से कर पाएंगी।

---

**आद्य के तीन रंगनाटक : आद्य रंगाचार्य; अनुवादक : बी० आर० नारायण; शब्दाकार, 2203, गली डकौतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-6, बीस रुपए।**

# प्रयोगवादी दृष्टि और व्यंग्य की हास्यास्पदता /

श्याम निर्मम

जूलियस हे की रचना द हार्स पर आधारित **एक और राजा** युवा लेखक सुरेंद्र कुमार तिवारी के इस नाटक की उत्पत्ति का आधार प्रयोगवादी दृष्टि है। आज की विसंगतियों में जब कि जीवन के हर क्षेत्र में मूल्यों में बदलाव आया है, नाटकों में भी निरन्तर परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की जाती रही है। विज्ञान और प्रचार-प्रसार के इस युग में जन-साधारण से 'नाटक' को जोड़ने की जो कोशिशें की जाती रही हैं, उनसे आज किसी में अच्छे परिणाम ही सामने आने चाहिए, लेकिन घटिया और चालू किस्म के नाटकों ने इन सुखद परिणामों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है।

नाटक काव्यकला का सर्वश्रेष्ठ अंग माना गया है। इसका कारण यह है कि नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति वाङ्मय के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक स्थायी, गहरी और व्यापक होती है, क्योंकि उसमें हम वास्तविकता का अनुभव करते हैं। श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किए जाते हैं परन्तु दृश्य काव्य में हमें कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता। वहां कल्पना की कमी को पात्रों की भाव-भंगी पूरा कर देती है। इसलिए नाटक, साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा साधारण जनता के अधिक नजदीक होने के कारण उसकी अपनी चीज है।'''लेकिन देखा गया है कि नाटक जनसाधारण से इतना नजदीकी संबंध रखते हुए भी उसको अपनी चीज नहीं बन पाया है क्योंकि अच्छे नाटकों का अभाव आज भी बरकरार है।

यह सही है कि **एक और राजा** का कथानक आज की समसामयिक स्थितियों पर प्रहार करने वाला है, लेकिन इस नाटक में व्यंग्य से अधिक हास्य उभरता है, और वह भी फूहड़। स्वार्थ के चरमोत्कर्ष पर जीते आज के आदमी पद पाने की लालसा और उसके लिए जोड़-तोड़ करके अपने को किस सीमा तक गिरा सकते हैं—इस तरह के अनेक बातें इस नाटक में पात्रों के माध्यम से उभरी जरूर हैं, लेकिन सस्ते हास्य के मध्य यह सब बिखरी-बिखरी सी जान पड़ती हैं। मनुष्य से जानवर बन जाने की प्रक्रिया आज सर्वत्र दिख रही है और यही इस नाटक के मूल में भी हैं, यदि फ्लैप के इस वाक्य को देखें, तो यह बात नाटक का मूल तो हो सकती है क्योंकि नाटक नाटक है। लेकिन वास्तविक जीवन में भले ही पाशविक प्रवृत्ति का कितना भी आगमन हुआ हो, उनसे शादी-ब्याह की नोबत आना अभी कल्पना से कोसों दूर की बात है। लेखक का यह सोच बड़ा अव्यवहारिक और हास्यास्पद है।

**एक और राजा : सुरेंद्र कुमार तिवारी; अभिव्यंजना प्रकाशन, आसफअली रोड, नई दिल्ली-110002; 15 रुपए।**

नाटक **एक और राजा** का प्रारम्भ एक सराय में चल रहे जुए से होता है, जहां पर बाहर से आए 'प्रियव्रत' नाम का एक युवक जुए में अपना सब कुछ गंवा चुका है। नशे की झोंक में अपने पास बचे अपने प्रिय घोड़े 'उच्चश्रवा' को भी वह अन्तिम दाव पर लगाना चाहता है लेकिन अन्य जुआरी इसके लिए तैयार नहीं होते। बाद में प्रियव्रत के आग्रह और उच्चश्रवा की 'आवाज, चाल-ढाल और उसके' रंग रूप पर मोहित होकर वे लोग खेलने को तैयार हो जाते हैं। प्रियव्रत्त के इस घोड़े को पाने की लालसा में नकली दाढ़ी लगाए महाराज अपने पास की तमाम दौलत को दाव पर लगा देते हैं लेकिन भाग्य उनका साथ नहीं देता और विजय 'प्रियव्रत' की होती है लेकिन जब उसे पता लगता है कि हारने वाला व्यक्ति राज्य का राजा है तो उसे भय सताता है लेकिन सराय वाला और राज्यमंत्री सूर्यसेन जो उसके पिता-असीमव्रत का घनिष्ट मित्र भी हैं, से सुनकर आश्चर्य-चकित हो जाता है कि 'यहां का राजा' सिर्फ एक ही शक्ति को महत्व देता है—जुए में भाग्य का हाथ होता है इसी शक्ति को। अगर कोई जुए के दाव में उन्हें हरा भी दे तो उससे वह प्रतिशोध लेने की भावना नहीं रखते। इससे राजा के नाटकीय चरित्र को आंका जा सकता है।

मैं सबका हो सकता है, होता है। महाराज का मैं तो और मायने रखता है। इसी संदर्भ में 'महाराज' के 'स्वगत' कुछ संवाद अच्छे बन पड़े हैं। 'जय प्रताप' और 'मुक्ता' उनके सेवा (चमचे) जरूर हैं लेकिन महाराज उनके सामने कितने बौने हैं—यह अनेक संवादों से देखा जा सकता है। दोनों सेवक हर समय किसी षड्यंत्र को रचते नजर आते हैं और जब इसी षड्यंत्र का शिकार वहां का महामंत्री सूर्यसेन होता है और महाराज उसके शिरोच्छेदन का आदेश जारी करते हैं तब प्रियव्रत से सूर्यसेन का कथन कितना सार्थक लगता है—"बेटे एक समय हमें भी सब कुछ असहय लगता था पर अब उस राज्य में रहकर सब कुछ सहना पड़ता है। और आश्चर्य तो यह है कि हम अभी भी यहीं टिके हैं। यह साम्राज्य और इसके नागरिक हम'''नहीं जानता कितने दिनों तक यह स्थिति रहेगी ''।' यह राजा और वहां के

नागरिकों की मानसिक दासता तथा आगे आने वाली स्थितियों की ओर संकेत करता है। महाराज का कथन फुसफुसाहटें ही महाराज की बुद्धि का उत्स हैं, उन लोगों के चरित्र और आचरण को झलकाता है जो इस कार्य में पारंगत हैं। तीनों सभासद आदित्य, सेनव्रत और प्रेमदत्त इसी तरह के पात्र हैं।

राजा अपने खाली कोषागार को भरने के लिए लालायित है तो सूर्यसेन और प्रियव्रत अपने प्राण बचाने के लिए, मतलब सभी किसी-न-किसी षड्यंत्र में शामिल हैं। घुड़दौड़ होती है जिसमें 'उच्चश्रवा' विजयी होता है और सभी का धन राजा के कोष को भर देता है। राजा का निर्णय होता है अब राज्य का नया महामंत्री उच्चश्रवा होगा जिसकी देखरेख का भार प्रधान परिचारक के रूप में प्रियव्रत के कंधों पर होगा। भला राजा के निर्णय को कौन टाल सकता है! एक तरह से 'जनतंत्र' के नाम पर 'जंगलतंत्र' की स्थापना करने वाले इस राजा के आदेशानुसार नवनियुक्त महामंत्री का उच्चश्रवा की एक-हजार मूर्तियां गंधार देश से पत्थर मंगाकर लगवाना 'घोड़ा शासन' की नींव डालने के समान है। घोड़े की भांति लगाम चबाना, अन्न के बदले घासफूस खाना, लोगों का उच्चश्रवा के पैरों में लोटना, चारों ओर उच्चश्रवा की जय जयकार का नारा चिट्ट-चिट्ट··· यानि 'घोड़ा शासन की नींवों को पुख्ता करने के लिए सतत जागरूक बनता। यानि यथा राजा तथा प्रजा। एक बार जैसा शासन चल पड़े, सभी उसे अपने स्वार्थों के लिए स्वीकार लेते हैं, बल्कि उसको प्रतिस्थापित करने में भी अपना पूर्ण योग देते हैं। यह राजा की घोषणा के बाद जब 'घोड़ा महाराज' के लिए एक सुशील सुन्दर कन्या की खोज की जाती है तो किस तरह राज्य के अमीर-गरीब अपनी कन्या को घोड़ा महाराज से ब्याहने के लिए चालें चलते हैं। जैसे घोड़ा न हुआ, कोई देवता हुआ। वणिक सुभानु की पत्नी सावित्री का कथन—'महामंत्री की सास बनने की योग्यता सिर्फ मुझमें ही हैं।'

आज जन साधारण और पाठकों की रुचि परिष्कृत करने के लिए अच्छे नाटकों की अत्यंत आवश्यकता है, न कि 'जंगल तंत्र' की कहानी सुनाकर उन्हें 'जंगली' बनाने की। एक और राजा अच्छा नाटक होता यदि लेखक ने परिस्थितियों के साथ न्याय किया होता। संवाद सरल हैं, लेकिन कसावट विहीन। नाटक के लिहाज से भाषा पैनी होनी चाहिए थी, लेकिन उसका लिज-लिजापन यहां अखरता है।

---

# जो मैं चाहता नहीं था

जिंदगी को अपने ढंग से
जी सकने की चाह
अब व्यर्थ लगती है।

जिंदगी को पकड़कर रखने की
कोशिशों के वे क्षण
जिन्हें जिंदगी-भर पकड़े रहने का
भ्रम पाल लिया था
बंद मुट्ठी से निकल
मीलों गहरे सागर में
टब्ब से गिरकर
न जाने कैसे खो गए
और मैं सन्न रह गया!

अब मेरा अहँ मुझ पर हावी है
और जाग रहा है स्वाभिमान!
निर्णय, अनिर्णय के बीच झूलना
कितना कष्टप्रद होता है,
इसे शायद तुम नहीं समझते।

मेरे अँदर का वह सब कुछ
अब खत्म हो गया है।

मेरा वह,
जो सिर्फ तुम्हारे लिए था,
अब किसी के लिए नहीं है,
तुम्हारे लिए भी नहीं।

**बलराम**

अब तो मैं चुप हो गया हूं,
अकेलेपन के इन दमघोंट क्षणों में
कर भी क्या सकता हूं,
अब रह ही क्या गया है शेष।

अपने ऊसूलों की राख में
दबा दिए हैं मैंने हजारों सच।
चाहा था अपनी नियति का निर्माण
अपने ही तरीके से,
रचना चाहा था
खुद ही विधान अपना।

नहीं चाहा था
बेबसी के धधकते आवे के बीच
मिट्टी की तरह पककर
अपनी सोंधी-सोंधी महक खो दूं
और फिर जिंदगी को
बोझ की तरह ढोता फिरूँ,
लेकिन जब तुमने खुद ही
पकड़ा हुआ मेरा हाथ
छोड़ दिया है तो अब
वही सब होगा,
जो मैं चाहता नहीं था!

| जन्मशती के अवसर पर |

ए० कमलनाथ 'पंकज'

# बल्लारि राघव



## तेलुगु रंगमंच के अभिनेता

**"बहु विचित्र मूक दृश्य लगभग छह मिनटों तक चलता रहा। न कोई गीत, न कोई पद, एक भी संवाद नहीं। छह मिनटों तक राघव अपने हृदयगत भावों को प्रदर्शित करते रहे। सैकड़ों दर्शक सांस रोके उस अभिनय को देखते रहे।···उस रात ऐसा लगा कि अपने शारीरिक आवरण पारकर आत्मा अलौकिक रसानंद को अनुभव करने लगी थी।···ऐसा था उनका 'पठान' अभिनय, 'विजयनगर पतन' नाटक में···।" (परपु सुब्बाराव)**

**"चाणक्य के पात्र में राघव का अभिनय देखने योग्य रहता था। वह उस पात्र में ही लीन हो जाते थे। तपोनिष्ठा, तेज, आत्माभिमान आदि चाणक्य के गुणों की अभिव्यक्ति राघव सफल रूप से किया करते थे। ऐसा लगता था कि यह क्लिष्ट पात्र राघव को पाने के लिए न जाने कितने दिनों से इनकी प्रतीक्षा कर रहा था।" (दौड्डन गौड़)**

ये हैं बल्लारि राघव के बारे में उनके समकालीन कलाकारों के विचार।

राघव तेलुगु नाटक क्षेत्र के प्रतिभावान अभिनेता थे; नाट्य परंपरा के गौरव स्तंभ थे। तेलुगु रंगमंच के अभिनेताओं में इनका अपना विशेष स्थान है।

बल्लारि राघव का वास्तविक नाम ताडपत्री राघवाचार्य था। इनका जन्म 2 अगस्त 1880 को आंध्र के अनंतपुर जिले के ताड़पत्री ग्राम में हुआ। बचपन से ही इन पर नाटकों का प्रभाव था। आंध्र नाटक पितामह श्री धर्मवरम रामकृष्णमाचार्य राघव के मामा थे। उनके संपर्क में आने के कारण अभिनय कला राघव की सांस और संपत्ति बनी।

बेंगलूर में अपना विद्याभ्यास पूरा कर राघव बल्लारि में (जो अब कर्नाटक में है) वकालत करने लगे। अपनी प्रतिभापूर्ण व प्रभावशाली बहस के कारण वह बल्लारि के नामी वकील बन गए। तब से राघवाचार्य "बल्लारि राघव" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

राघव वकील के रूप में तो प्रसिद्ध थे ही, अभिनेता के रूप में और प्रसिद्ध हुए। बेंगलूर में एम्मेचूर ड्रामेटिक एसोसिएशन नामक संस्था के वह सक्रिय सदस्य थे। इस संस्था ने तेलुगु, कन्नड़ और अंग्रेजी के अनेक नाटक प्रदर्शित किए, जिनमें राघव प्रमुख पात्र धारण किया करते थे। बहुत-से लोग इनके अभिनय को देखने के लिए ही नाटकशाला जाते थे। उन्होंने अपने अभिनय द्वारा हिरण्यकश्यप, चाणक्य, दशरथ, हरिश्चंद्र, रामदास, यमधर्मराज आदि पात्रों को नया रूप प्रदान किया था। अर्थात हिरण्यकश्यप के पात्र को केवल कठोर, भयंकर असुर के रूप में ही न बताकर, उसमें पुत्र-वात्सल्य, कलत्र प्रेम व मार्दव गुणों को भी दर्शाया। यमधर्मराज के पात्र को भयभीत करने वाले देवता के रूप में न बताकर सौम्य देवता के रूप में ढालकर प्रस्तुत किया। केवल तेलुगु के नाटक ही नहीं, अंग्रेजी के नाटकों में भी राघव ने अपनी प्रतिभा की धाक जमाई। **चाणक्य** नाटक में इनका अभिनय देखकर रवींद्रनाथ ठाकुर मुग्ध हो गए थे। इंग्लैंड के प्रसिद्ध नाटककार फोर्बस राबर्टसन और जार्ज बर्नार्ड शा ने अंग्रेजी नाटकों में इनके अभिनय को देखकर इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

राघव केवल अभिनेता ही नहीं, समाज सुधारक भी थे। तत्कालीन समाज में प्रचलित अन्याय व अत्याचारों को वह नाटक में जहां-तहां चर्चा कर दिया करते थे। उन्होंने रंगमंच को सुधारने का भी प्रशंसनीय कार्य किया। उस जमाने में स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष ही किया करते थे, कारण रंगमंच पर स्त्रियों को प्रवेश को हेय दृष्टि से देखा जाता था। राघव ने इस दिशा में स्त्रियों को प्रोत्साहित किया और स्त्री पात्रों के लिए स्त्रियों को मंच पर लाकर यह बताया कि अभिनय कला पवित्र होती है, इसे हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

तेलुगु के पौराणिक नाटकों में पद व गीतों की प्रधानता रहती है, जिनमें राग के उतार-चढ़ाव पर अधिक ध्यान दिया जाता है। राघव इसके विरोधी थे। वह कहा करते थे कि पद या गीत गाते समय संगीत पर आवश्यकता से अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। स्वर-ताल से अधिक भाव व अर्थाभिव्यक्ति पर अभिनेता की दृष्टि रहनी चाहिए। राघव से प्रेरणा पाकर अनेक युवा कलाकार सफल अभिनेता बने।

राघव का व्यक्तित्व गंभीर था, मगर उनमें विनोद-प्रवृत्ति, पर्वत की गोद में छिपी जलधारा की तरह कभी-कभी दिखाई दे जाती थी।

एक बार वह दीर्घकाल तक बीमार रहे और बहुत दिनों तक नाटक खेलने बेंगलूर नहीं जा सके। स्वस्थ होने पर जब वह

बंगलूर गए, तब अपने एक मित्र के साथ मंत्रणा कर यह प्रचार करा दिया कि दीर्घ अनारोग्य के कारण वह 'बहरे' हो गए हैं। राघव दिन-भर ऐसा अभिनय करते रहे जैसे वह कुछ नहीं सुन पा रहे हों। उनके सामने उनके मित्र जोर-जोर से इशारे कर बातें करने लगे और सहानुभूति जताने लगे।

दूसरे दिन जब फिर वह इसी प्रकार बातचीत करने आए, तब राघव ने उन्हें बताया कि वह ठीक तरह से सुन सकते हैं। उनका 'बहरापन' तो एक अभिनय था। वास्तविक स्थिति मालूम होने पर सब लोग हँसी से लोट-पोट होने लगे।

राघव कला के आराधक ही नहीं, भगवद् साधक भी थे। उनकी डायरी के पन्नों से हमें उनके आध्यात्मिक विचारों का पता चलता है। दिनांक 2-2-1937 की डायरी में उन्होंने लिखा—

"संपत्ति के आने पर, विपत्ति के टलने पर भगवान के स्मरण की बात कही गई है, पर यह बुजदिली है। यह सच्चे भक्त का लक्षण नहीं है। सच्चा भक्त संपत्ति व विपत्ति को समान रूप से देखता है।"

राघव वैष्णव संप्रदाय के थे, पर वह शिव की उपासना किया करते थे। उनकी दृष्टि में जात-पांत का बंधन, भक्ति-मार्ग का बाधक था। दिनांक 30-4-1924 की डायरी में वह लिखते हैं—

"सच्चे वैष्णव की कोई जाति नहीं होती। वह जात-पांत ऊपर उठा रहता है। जात-पांत-भेद को पूरी तरह छोड़े बिना भक्त नहीं बन सकता।"

यह महान अभिनेता 16 अप्रैल, 1946 को तेलुगु रंगमंच से रूठकर चला गया। ●

---

(पृष्ठ 3 का शेषांश)

## लक्ष्मीनारायण लाल

दिखाई पड़ती है। इसमें संभावना इस बात से जुड़ती है कि हिंदी क्षेत्र में यह जो सांस्कृतिक खोखलापन है, जनता के मन में जिन कलाओं के प्रति बहुत उपेक्षा हैं, अज्ञान है; अब इन सब के खिलाफ कोई इस क्षेत्र में उठे और लोग अपनी बुनियाद से जुड़ें और उसके महत्व को समझें, तभी रंगमंच के विकास की संभावनाएं पैदा हो सकती हैं। फिलहाल मुझे इस दिशा में कोई बड़ा परिवर्तन आने की आशा नहीं दिखाई देती। जो कुछ भी हिंदी में हो रहा है, उसके पीछे व्यवसाय और फेशन और अपने-आपको आधुनिक दिखाने की चाह है, उसके पीछे उसकी निष्ठा नहीं है। न उसके प्रति कोई गहराई का भाव है।

**● सफल नाटककार के लिए मंच से पूरी तरह जुड़ा रहना और उसकी अपेक्षाओं के प्रति सजग होना आवश्यक है क्या ?**

सबसे बड़ी बात यह है कि जब तक आदमी अपने यथार्थ से जुड़ा न रहेगा और जिंदगी में से कोई रस, कोई मनोरंजन निकाल करके वह मंच पर प्रस्तुत न कर पाएगा—जो जीवन की अनिवार्यता है और जिसकी बहुत जरूरत है—तब तक हमारे यहां यही सब होता रहेगा। हमारे यहां के लोग जिन्होंने बड़े खेल खेले, अंततः धनार्जन और यश-प्राप्ति के लोभ में रंगमंच से दूर चले गए। अगला चरण शिक्षण और प्रशिक्षण का है लेकिन हमारे यहां तो पहला ही चरण शुरू नहीं होता है। हमारे यहां रंगमंच में वे आते हैं जिनके संस्कार नहीं होते, और जिनके संस्कार हैं उनको वहां आने नहीं दिया जाता।

**● हिंदी-प्रदेश में रंगमंच को लोकप्रिय बनाने के लिए आप क्या-क्या सुझाव देना चाहते हैं ?**

मैं चार सुझाव दे रहा हूँ, हालांकि मैं यह जानता हूं कि इनमें से तीन सुझावों को कोई नहीं मानेगा क्योंकि किसके पास पैसा और समय है ! फिर भी पहला सुझाव है; अपनी भाषा में, अपनी बोली में लिखा हुआ नाटक हो जो अपने ही लोगों द्वारा प्रस्तुत किया जाए। दूसरा, जहां भी खेला जाए वहीं की बोली, वहीं के लोग हों जो उसमें भाग लें। उससे बहुत बड़ा रिश्ता कायम हो जाता है। आज यहां जो हो रहा है उसमें एक आदमी सब-कुछ करता है—वही निर्देशक है, वही अभिनेता है, वही टिकट भी बेच लेता है। ऐसा नहीं है कि इस क्षेत्र में सहयोग के लिए लोग नहीं मिलते हैं; लोग तो मिलते हैं, लेकिन उनको कोई लेना नहीं चाहता। इसलिए जो सफलता मिले या असफलता, उसका भोग वह स्वयं अकेला ही करना चाहता है और फिर ये दोनों चीजें उसको तोड़ देती हैं क्योंकि वह अकेला है। कितने दिनों से हमारे यहां शादी-ब्याह की प्रथा चली आ रही है और उनमें अधिकांश की सफलता का रहस्य एक नहीं अनेक का उस रस्म में भागीदार होना है। सभी संबद्धजन अपने को उसका अभिन्न अंग मानते हैं और उसे टूटने से रोकते हैं। वहां पर सफलता और असफलता की बात नहीं है। वहां तो सब मिल-जुलकर एक काम करते हैं। किंतु नाटक का काम 5 से ज्यादा नहीं चल पाता। सफलता और असफलता—दोनों नाटक करने वाले को तोड़कर रख देती है। रंगमंच को सामाजिक माना जाए, तो ज्यादा अच्छा है। तीसरा, सरकार से कम-से-कम अनुदान लिया जाना चाहिए नहीं तो राज्य अनुग्रह के पीछे राज्य आ जाएगा, उसमें राजनीति प्रवेश कर लेगी और उसके साथ आ जाएगा भ्रष्टाचार। इसलिए अनुदान से भरसक बचे रहने का प्रयास करना चाहिए। चौथा सुझाव है, नाटक प्रस्तुतीकरण में एक नहीं अनेक लोगों को शामिल किया जाना चाहिए और न कोई दल बनाना चाहिए न ग्रुप, बल्कि परिवार बनाना चाहिए क्योंकि हमारी पूरी संस्कृति की बुनियाद परिवार है। ●

# एशियाई खेल : सहयोग और सद्भाव का खेल-मेला



योगराज थानी

भारतीय खेल प्रेमियों का एशियाई खेलों से प्यार और लगाव होना स्वाभाविक है। यह वह प्रतियोगिता है जिसका जन्मदाता भारत को माना जाता है। भारतीय खेल-कूद के इतिहास में 4 मार्च, 1951 का दिन बड़ा ही महत्वपूर्ण और गौरवपूर्ण दिन था। इसी दिन नई दिल्ली के नेशनल स्टेडियम में पहली बार एशियाई खेलों का आयोजन किया गया था और इसी अवसर पर श्री जवाहरलाल नेहरू ने एशिया के खिलाड़ियों को यह मन्त्र दिया था : **खेल को खेल की भावना के साथ खेलो।**

तब से अब तक आठ बार एशियाई खेलों का अयोजन हो चुका है। 1951 (नई दिल्ली) 1954 (मनीला) 1958 (तोक्यो) 1962 (जकार्ता) 1966 (बैंकाक) 1970 (बैंकाक) 1974 (तेहरान) 1978 (बैंकाक)। कहने का मतलब यह कि भारत ने एशियाई प्रतियोगिता का जो पौधा लगाया था वह अब एक वृक्ष का रूप धारण कर गया है।




यदि आप इसके इतिहास के पन्ने पल्टे तो आपको पता चलेगा कि इस प्रतियोगिता पर कई बार संकट के बादल मंडराए। ऐसा कई बार हुआ जब किसी एक देश ने पहले तो उत्साहपूर्वक इन खेलों को अपने यहां आयोजन करने का प्रस्ताव रखा और बाद में अपनी असमर्थता या अनिच्छा व्यक्त कर दी। खैर, यह तो हुई बीते हुए कल की बात, इस समय लोगों को आने वाले कल की चिंता लगी हुई है। यह बात हर कोई जानता है कि आगामी एशियाई खेलों का आयोजन 1982 में नई दिल्ली में होगा। लोगों में इसके आयोजन पक्ष को लेकर जितना उत्साह है उतनी ही आशंका भी है। कारण यह कि इतनी बड़ी प्रतियोगिता के आयोजन और संयोजन में काफी समय लग जाता है। नए स्टेडियमों का निर्माण एशिया के विभिन्न भागों से आए खिलाड़ियों और अधिकारियों को ठहराने की व्यवस्था के लिए खेल गांव का निर्माण, विभिन्न प्रतियोगिताओं के लिए मैदानों की व्यवस्था आदि अनेक ऐसे काम हैं, जिनमें काफी समय लग जाता है जब कि लगभग दो वर्ष का ही समय शेष रह गया है। यहां यह बात तो स्वीकार करनी होगी कि समय जरूर कम है लेकिन भारतीय नेताओं, और अधिकारियों का इन खेलों के आयोजन के प्रति उत्साह बहुत है। भारत सरकार ने इसके निर्माण कार्य को प्राथमिकता देने का निर्णय किया है।

कुछ समय पहले यह सुनने में आया था कि इन खेलों का आयोजन दिल्ली और राई (सोनीपत-हरियाणा) दो स्थानों पर होगा। कौन से खेल दिल्ली में होंगे और कौन-से राई में इसका भी निर्णय कर लिया गया था। जैसे साइकिल चालन, निशानेबाजी, जिम्नास्टिक, कुश्ती तथा तीरंदाजी की स्पर्धाएं राई में होंगी। नई दिल्ली में जिन खेलों के आयोजन का फैसला किया गया था वे हैं :—एथलेटिक, बैडमिंटन, बास्केटबाल, मुक्केबाजी, इक्वेस्टेरियन, फुटबाल, गोल्फ, हाकी, तैराकी, टेबल टेनिस और टेनिस। केवल नौकायन प्रतियोगिता का आयोजन बम्बई में समुद्रतट पर किया जाएगा।

लेकिन पिछले दिनों यह समाचार



**1951 में तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा पहले एशियाई खेलों का नई दिल्ली में राष्ट्रीय स्टेडियम में उद्घाटन के समय का दृश्य।**

सुनने को मिला कि हरियाणा के मुख्य-मंत्री का इन खेलों के आयोजन में अब उतना उत्साह नहीं रहा। उनका कहना है कि उक्त खेलों के आयोजन के लिए जो अनुमान लगाया गया था वह अब 4 करोड़ रुपए और अधिक हो गया है। यदि हम इन खेलों के आयोजन पर ही करोड़ों रुपए खर्च कर देंगे तो राज्य की अन्य योजनाओं पर प्रतिकूल असर पड़ सकता है। अब ये खेल हरियाणा में न करने का निश्चय किया गया है

खैर, इन खेलों का आयोजन दिल्ली और राई दोनों स्थानों पर होना या केवल दिल्ली में इससे कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। हां, अंतर तब पड़ता है जब एक वर्ग सरकार के हर कदम की आलोचना करनी शुरू कर देता है। इन खेलों के आयोजन का सारा दायित्व सरकार पर ही हो ऐसी बात नहीं है। इसमें देश के विभिन्न खेल संगठनों, भारतीय ओलम्पिक संघ, अखिल भारतीय खेलकूद परिषद तथा हर खेल प्रेमी का सहयोग प्राप्त होना आवश्यक हैं।

कुछ समय पहले केंद्रीय मंत्री श्री बिद्या चरण शुक्ल की अध्यक्षता में एशियाई खेलों की संयोजक समिति का गठन किया गया था। उसमें सरकार के सभी विभागों से सहयोग की मांग की गई थी। क्योंकि यह बात तो निश्चित है कि इतने कम समय में इतना बड़ा निर्माण कार्य सभी सरकारी और गैर-सरकारी विभागों के सहयोग के बिना असंभव है। 75,000 व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था वाला नया स्टेडियम, अंतराष्ट्रीय स्तर का तैराकी तालाब, 4,000 खिलाड़ियों, प्रशिक्षकों और अधिकारियों के ठहराने वाला खेल गांव, और कुछ पुराने स्टेडियमों का नये सिरे से निर्माण करने में काफी समय लग सकता है। दिल्ली प्रशासन, दिल्ली विकास प्राधिकरण, केंद्रीय निर्माण और आवास विभाग, दिल्ली नगर निगम ने अपने-अपने दायित्वों को संभाल लिया है। केंद्रीय निर्माण विभाग के अधिकारियों का कहना है कि साढ़े तेरह करोड़ की लागत से **बनने वाला स्टेडियम जून 1982 तक बन कर तैयार हो जाएगा।** लोधी रोड स्थित इसी स्टेडियम में प्रतियोगिता का उद्घाटन और समापन समारोह होगा। इसके साथ-साथ एथलेटिक और फुटबाल के मुकाबलों का आयोजन भी इसी स्टेडियम में होगा। नेशनल स्टेडियम का विस्तार किया जाएगा और वहां पर कृत्रिम घास का **हाकी का मैदान** बनाया जाएगा।

जहां तक भारतीय खेल प्रेमियों का सवाल है उनकी रुचि यह जानने में है कि क्या सारा काम समय पर हो जाएगा या नहीं। क्योंकि अब तक जिस रफ्तार से काम हो रहा है यदि वही क्रम जारी रहा तो भारत की प्रतिष्ठा को काफी आघात पहुंच सकता है।

**पहले एशियाई खेलों की एक झलक**

एशिया के देशों के बीच खेलकूद की प्रतियोगिताएं करने का उद्देश्य यह था



**1951 में नई दिल्ली में आयोजित एशियाई खेलों में बास्केटबाल में पहले, दूसरे और तीसरे स्थान पर रहने वाली क्रमशः फिलीपीन्स, जापन और ईरान की टीमों के खिलाड़ियों के बीच तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू।**

कि एशिया के देशों में मित्रता और सद्भाव बढ़े। जिस विश्व मैत्री और बंधुत्व की भावना को लेकर ओलिंपिक खेलों का आयोजन किया गया था उसी भावना को ध्यान में रखकर एशिया में भी प्रतियोगिता आयोजन करने का प्रस्ताव रखा गया। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया था।

आपको आज भी ऐसे बहुत से लोग मिल जाएंगे जो आपको **4 मार्च, 1961** के उद्घाटन समारोह का आंखों देखा हाल सुना सकते हैं। तब भारत को स्वाधीन हुए केवल **चार वर्ष का समय हुआ था।** स्वाधीन भारत में पहली बार किसी अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिता का आयोजन हुआ। वर्षों की दासता से मुक्त हुए भारतवासियों की खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा।

तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने पहले एशियाई खेलों का विधिवत उद्घाटन किया।

यहां यह बता देना भी उचित होगा कि जिस समय स्डेडियम का निर्माण हुआ उस समय कुछ खेल अधिकारी श्री जवाहरलाल नेहरू के पास पहुंचे थे और उनसे स्टेडियम के नामकरण के बारे में पूछा था। कुछ ने यह कहा था कि इस स्टेडियम का नाम नेहरू स्टेडियम रखा जाना चाहिए। इस पर श्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि आपको स्टेडियम के साथ मेरा नाम जोड़ने की क्या जरूरत है। यह स्टेडियम राष्ट्र का है, इसलिए इसका नाम 'नेशनल स्टेडियम' रखा जा सकता है।

खैर, उद्घाटन के उन ऐतिहासिक क्षणों की कल्पना कीजिए जब एक के बाद एक 21 तोपों की सलामी हुई। शान्ति के प्रतीक सफेद कबूतर उड़ाए गए। हजारों की संख्या में आकाश पर रंग-बिरंगे गुब्बारे उड़ाए गए। एशिया के 11 देशों से आये सैकड़ी खिलाड़ियों ने रंग-बिरंगे कपड़ों में मार्च-पास्ट में हिस्सा लिया। अंग्रेजी के वर्ण-क्रमानुसार अफगानिस्तान ने सब से पहले स्टेडियम में प्रवेश किया जबकि मेजबान भारत सबसे अन्त में आया। वर्मा, श्रीलंका, इंडोनेसिया, ईरान, जापान, मलाया, नेपाल, फिलीपीन्स व सिंगापुर के खिलाड़ियों ने अपने-अपने देश की राष्ट्रीय धुन पर मार्च पास्ट में हिस्सा लिया। नेपाल की ओर से हालांकि किसी खिलाड़ी ने भाग नहीं लिया लेकिन वहां से कुछ **राजनीतिक प्रतिनिधि** मार्च-पास्ट में हिस्सा लेने पहुंचे थे। दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले में मशाल प्रज्ज्वलित की गई। उस मशाल को कई धावकों ने पांच मील का लंबा रास्ता तय करके नेशनल स्टेडियम तक पहुंचाया। अंतिम चरण में मशाल को थामा 53 वर्षीय ब्रिगेडियर दिलीप सिंह ने, जिन्होंने 1924 के पेरिस ओलिंपिक में भारत का प्रतिनिधित्व किया था।

8 दिनों तक प्रतियोगिता का आयोजन हुआ। पदकों की होड़ में जापान को प्रथम और भारत को दूसरा स्थान प्राप्त हुआ।

जापान ने 24 स्वर्ण, 20 रजत और 16 कांस्य पदक प्राप्त किए जबकि भारत ने 15 स्वर्ण, 16 रजत तथा 21 कांस्य पदक जीते। भारत का लेवी पिंटो 100 मीटर की दौड़ को 10.8 सैकिंड में पूरी करके एशिया का सबसे तेज भागने वाला धावक कहलाया।

फुटबाल के फाईनल में भारत और ईरान के बीच मैच खेला गया था जिसमें भारत ने ईरान को हराकर एशियाई चैंपियन का गौरव प्राप्त किया था।

इस प्रकार खेलकूद के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। लोकप्रियता की दृष्टि से अब ओलिंपिक और राष्ट्रमंडल खेलों के बाद एशियाई खेलों का ही स्थान है। इन खेलों की तरह इसका आयोजन भी हर चार साल बाद किया जाता है।

जहां तक भारतीय खिलाड़ियों के प्रदर्शन का सवाल है एशियाई खेलों में भारतीय खिलाड़ियों को काफी सफलता प्राप्त हुई। नई दिल्ली में लेवी पिंटो, मनीला में प्रद्युमन सिंह (गोला और चक्का फैंकने के चैंपियन) तोक्यो में मिल्खा सिंह, बैंकाक (1970) में जोगिंदर सिंह, प्रवीण कुमार और महिलाओं में कमलजीत संधु, तेहरान में विजय सिंह चौहान, टी० सी० योहानन, श्रीराम सिंह और शिवनाथ सिंह, बैंकाक (1978) में हरिचंद, श्रीराम सिंह, और गीता जुत्सी को विशेष सफलता प्राप्त हुई।

यहां यह बात भी स्वीकार करनी होगी कि एशियाई खेलों में भारतीय खिलाड़ियों को जितने स्वर्ण पदक प्राप्त होते हैं उतने और किसी बड़ी अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में प्राप्त नहीं होते। उसका एक कारण यह भी है कि हमारे एथलीट अन्य एशियाई देशों की तुलना में काफी आगे हैं। कई बार तो ऐसा भी हुआ जब हमारे एथलीटों ने जापान से टक्कर लेनी शुरू कर दी और उस से भी अधिक पदक बटोरने में सफल हो गये।

पिछले एशियाई खेलों (बैंकाक 1978) में भारत ने 11 स्वर्ण, 11 रजत और 6 कांस्य पदक प्राप्त किये थे। पिछली बार भारत को कौन कहां की सूची में छठा स्थान प्राप्त हुआ था।

अगले एशियाई खेलों में भारतीय खिलाड़ियों का प्रदर्शन इससे बेहतर रहेगा इसमें दो राय नहीं हो सकतीं। लेकिन उसके लिए खिलाड़ियों को भी अभी से तैयारी शुरू कर देनी चाहिए। यह समय वाद-विवाद या तर्क-वितर्क का नहीं, केवल कर्म का है। किसी दार्शनिक ने ठीक ही कहा है कि चिंतनशील बनने से कर्मशील बनना ज्यादा अच्छा है। ●



साहिर लुधियानवी

# शायरी का ताजमहल

रामानंद दोषी, दुष्यंत, सलाम मछली शहरी, दिनकर जी और अब साहिर लुधियानवी—एक के बाद एक चुपचाप चले गए। कविता की इन पांच शताब्दियों को चंद वर्षों ने निगल लिया ! वक्त की इस रफ्तार पर दिल में दहशत पैदा होना स्वाभाविक है। यह दहशत का घेरा और मैं, कि तभी साहिर की याद दस्तक देती है और मेरी स्मृति अतीत के संग्रहालय में सुरक्षित उन हजारों कलेंडरों में से उनकी गर्द साफ करने में लगी है जिन पर सिर्फ साहिर की तस्वीरें छपी हैं। आज न आंख में आंसू है और न होठों पर 'तलखियां', 'आओ कि कोई ख्वाब बुनें', 'परछाइयां' या 'गाता जाए बंजारा' में संकलित रचनाएं। बस उस एक लंबी नाक वाले इंसान की जिंदगी के कुछ काव्य-चित्र मेरे सामने हैं जो खुद में एक सचित्र महाकाव्य था।

साहिर की जिस पहली तस्वीर की धूल मैं अपनी पेशानी से साफ कर चुका हूं उस पर लिखा है सन् 1943, यानी कि दूसरे महायुद्ध का एक साल।

अंग्रेजी राज्य की खैरख्वाही और जंग में उनको विजयी बनाने की कामना के साथ लुधियाना में एक बड़े मुशायरे का आयोजन किया गया है। आयोजन किया है एक बड़े जागीरदार ने। मंच पर यूनियन जैक लहरा रहा है। मुशायरा चल रहा है कि तभी अपना नाम पुकारे जाने पर गवर्नमेंट कालेज लुधियाना का एक 18-19 वर्षीय छात्र मंच पर आता है। जागीरदार उसे देखता है, वह खुश है कि वह उसी का बेटा है। शायद आज उसकी नज्म उसे कोई नया खिताब दिला दे। जागीरदार नाखुश भी है, क्योंकि यह उसका वही नामुराद बेटा है जो जागीरदारी और हुकूमत के खिलाफ जहर उगलता रहा है। लंबी नाक और लंबे छरहरे कद के इस शायर के मंच पर आते ही देर तक तालियां बजती रहती हैं।

तालियां थमती हैं और एक आवाज उभरती है, "हजरात-मैं उस स्टेज से, जिस पर मेरे मुल्क की गुलामी का परचम यूनियन जैक लहरा रहा हो, कोई नज्म पढ़ना अपने मुल्क की तौहीन समझता हूं।"

यह कहकर वह मंच से नीचे कूद आता है। लोगों का हुजूम उसे कंधे पर उठाकर ले जा चुका है और मुशायरे के चारों ओर सिर्फ सकते का एक आलम है, जागीरदार की नाराजगी और भी बढ़ चुकी है, हुकूमत उसे खतरनाक समझने लगी है और कालेज से उसका नाम काट दिया गया है।

कालेज से नाम जरूर कट गया उसका, लेकिन उसी दिन उस नए शायर का नाम हजारों के दिल पर खुद गया। सैकड़ों दिमागों में उसकी जो तस्वीर बन चुकी है और उसके नीचे लिखा है—साहिर लुधियानवी।

इस तस्वीर को एक तरफ रखकर जब मैं एक दूसरी तस्वीर की धूल पोंछता हूं तो देखता क्या हूं कि उस पर लिखा है फिक्र तोंसवी द्वारा भेंट। फिक्र तोंसवी, यानी कि वरिष्ठ व्यंग्यकार। फिक्र तोंसवी ने शायद मेरी किसी रचना पर खुश होकर यह तस्वीर मुझे दी होगी। यह तस्वीर भारत-विभाजन के बाद की है, जगह है लाहौर। प्रसिद्ध उर्दू-पत्रिका अदबे-लतीफ का कार्यालय। कुछ नौजवान लेखक-शायर अदबे-लतीफ के कार्यालय में मजहबी दरिंदगी पर अपना रोष प्रकट करने में लगे हैं कि तभी दो दरिंदे हाथों में छुरे लिये भीतर आ जाते हैं।

छुरेबाज : (एक युवक की तरफ इशारा करते हुए) यह हिंदू है, इसे हमारे हवाले कर दो, मजहब इसका खून चाहता है वर्ना···

जवाब : यहां कोई हिंदू नहीं है। हम सब मुसलमान हैं, बराए करम बाहर चले जाइए।

छुरेबाज : यह मुसलमान है, इसका सबूत दो।

जवाब : तुम खुद मुसलमान हो, पहले इसका सबूत दो। सच्चे मुसलमान को कुरान शरीफ की कुछ आयतें हिफ्ज होती हैं, तुम्हें याद हैं ?

रामावतार त्यागी

छुरेबाज के चेहरे पर परेशानी है, उसे कोई पाक आयत याद नहीं है। तभी दूसरी आवाज उभरती है, "फिक्र तुम कोई आयत पढ़ो !" और भाटिया हिंदू फिक्र तोंसवी, संपादक अदबे लतीफ कुरान शरीफ की आयतें पढ़ता है।

परेशान छुरेबाज : लेकिन हमें शाही इमाम का सर्टिफिकेट चाहिए और वह भी कल तक।

जवाब : मिल जाएगा, इस वक्त दफा हो जाओ। पाकिस्तान में रह रहे कतील शिफाई और हिंदुस्तान में बसे फिक्र तोंसवी दोनों गवाह हैं कि छुरेबाजों से टकराई यह तस्वीर साहिर लुधियानवी की है।

धूल झाड़ते-झाड़ते एक और तस्वीर हाथ में आई। यह तब की है जब पाकिस्तान को अलविदा कहकर दिल्ली में चंद साल

गुजारने के बाद साहिर बंबई में अपना घर बना चुका था।

वह तब **शहकार, ताजमहल, चकले, फनकार** जैसी नज्मों के रचयिता के रूप में एक बड़ा और नामी शायर बन चुका था। फिल्मों में भी उसके गानों की धूम थी।

यह तस्वीर जिस जमाने की है, वह सन 1956 का साल होगा। मैं बंबई रेडियो स्टेशन पर एक कवि सम्मेलन में आमंत्रित हूं। सभी प्रसिद्ध कवि बुलाए गए हैं। मैं नया हूं इसलिए पहले पुकारा जाता हूं। मैं अपना गीत सुनाता हूं, कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, क्योंकि नजरें विख्यात चेहरों पर टिकी हैं। गीत ठीक था, बाद में उसे ख्याति भी बहुत मिली लेकिन उस दिन अनसुना रह गया। कवि सम्मेलन समाप्त। मैं एक तरफ उदास खड़ा हूं। लोगों और खास तौर पर महिलाओं में बड़े कवियों के आटोग्राफ लेने की होड़ लगी है। कुंठा मेरे भीतर गहरा रही है। तभी अचानक एक हाथ मेरे कंधे पर टिक जाता है। वह लंबी नाक वाले एक लंबोतरे व्यक्ति का मुलायम हाथ है। मैं गुमसुम। तभी आवाज उभरती है: "मुझे साहिर लुधियानवी कहते हैं। आज तुम्हारी रचना सबसे अच्छी थी। मुमकिन हो, तो कल घर आओ।" अगले दिन चाय पर एक नए रिश्ते की शुरुआत होती है।

एक और तस्वीर मेर हाथ लग गई है। साहिर की तीन किताबें, जिनमें **तलखियां** का ग्यारहवां संस्करण भी शामिल है, दिल्ली के एक प्रकाशक ने एक साथ छापी हैं। उन्हीं का प्रकाशनोद्घाटन समारोह है। जगह है प्यारेलाल भवन, अध्यक्ष हैं **दिनकर जी**। मुझे खास तौर पर आमंत्रित किया गया है क्योंकि साहिर की इच्छा है कि मैं आज कोई रचना सुनाऊं। मैं एक गीत सुनाता हूं। समारोह समाप्त होता है, तब साहिर नजदीक आते हैं: "इस शाम की सबसे बड़ी कामयाबी तुम्हारा वह गीत था।" वह इतना कहकर **दिनकर जी** से बातचीत में उलझ जाते हैं और उस शाम की तस्वीर मेरी स्मृति के संग्रहालय में पहुंच जाती है।

तस्वीरें और भी बहुत हैं लेकिन उनसे देर तक आंख मिलाने की जुर्रत नहीं हो रही है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि साहिर के चले जाने से हिंदुस्तान का सबसे बड़ा शायर चला गया। शायर उससे भी बड़े हो चुके हैं, हैं भी, और हो भी सकते हैं। लेकिन इतने नायाब इंसान बहुत ज्यादा नहीं होते। अठारह-उन्नीस साल की उम्र से लेकर 57 साल की उम्र तक बराबर कीर्ति उसे घेरे रही, लेकिन वह आम आदमी ही बना रहा—यह बहुत बड़ी बात है।

उसने उम्र भर शादी नहीं की। मैंने नहीं, पर एक बुजुर्ग ने जब उससे इसका कारण पूछा, तो कहते हैं कि उसका जवाब था, "शादीशुदा औरत की शक्ल में मैं अपनी मां का हाल देख चुका हूं।" लेकिन बाबजूद इसके कि उसे कोई खास खूबसूरत इंसान नहीं कहा जा सकता, काफी बड़ी संख्या में उसके प्रेम आख्यान चर्चित रहे हैं? उनमें बहुत से मनगढ़ंत भी हैं, लेकिन तीन-चार ऐसी देवियों को मैं जरूर जानता हूं, जो उसके लिए जान भी दे सकती थीं।

बड़ा शायर होने के अलावा उसमें कुछ खास बातें और भी थीं। एक यह कि उसकी याददाश्त गजब की थी। बचपन में वह कोई फिल्म देखकर आपको फिल्म के संवाद ज्यों-के-त्यों सुना सकता था। वह कोई गजल या नज्म लिखना शुरू करता, तो उसका जितना भी टुकड़ा उसके दिमाग में आता, वह पूरे शहर में फैल जाता।

लेकिन उसकी सबसे खास बात उसकी विनम्रता थी। उसके मुकाबले एक तिहाई यश और दसवां हिस्सा धन पाने वाले लोगों को मैंने दंभ के चौबारे से दूसरों पर थूकते देखा है

पर ज्यों-ज्यों सफलता, कीर्ति और लक्ष्मी उसके जीवन में बढ़ती रही, वह उतना ही विनयी होता गया। जिस शायर की एक ही किताब के उर्दू में 22 और हिंदी में 11 संस्करण प्रकाशित हो चुके हों, तब भी उसका सिर उसके कंधे पर सही सलामत रहे, यह छोटी बात नहीं है।

उसे जब राष्ट्रपति की ओर से पद्मश्री से सम्मानित किया गया था, तब मैंने उसे तार द्वारा बधाई भेजी थी, उसके जबाव में उसने जो कुछ लिखा था, वह कोई छोटा आदमी लिख ही नहीं सकता। लिखा था, "अगर तुम मेरी किसी नज्म के बारे में बधाई भेजते तो मुझे ज्यादा खुशी होती। बहरहाल, दोस्तों की नजर में मैं भी सरकारी आदमी बन गया हूं।" उसके साथ ही एक पुराना शेर—

**गरीबे शहर के तन पर लिबास बाकी है**
**अमीरे शहर के अरमां अभी कहां निकले!**

मुमताज महल के स्मारक ताजमहल के बारे में तो यह चर्चा चल निकली है कि उसका भविष्य खतरे में है लेकिन साहिर की **ताजमहल** नज्म की ये पंक्तियां हर भविष्य के सीने पर अंकित रहेंगी—

**ये चमनजार, ये जमना का किनारा, ये महल**
**ये मुनक्कश दरो-दीवार, ये मेहराब, ये ताक**
**इक शहनशाह ने दौलत का सहारा लेकर**
**हम गरीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मजाक**
**मेरी महबूब कहीं और मिलाकर मुझसे!**

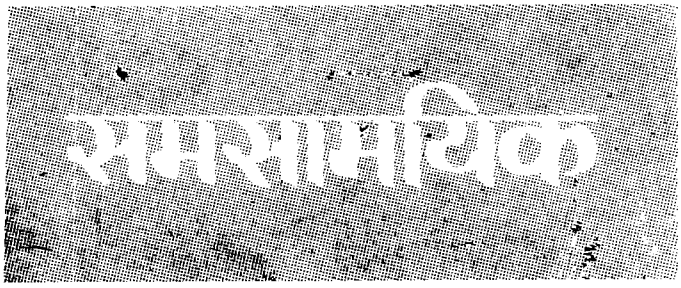
दरअसल साहिर लुधियानवी हमारे लिए अब एक इंसान या शायर का नाम नहीं रह गया है। बल्कि वह एक ऐसे संगम का विरल उदाहरण बन गया है जहां एक बड़ा शायर और एक बड़ा इंसान एक जगह मिलते थे।

यहां मैंने जान-बूझकर साहिर के शायर और उसके सृजन की चर्चा नहीं की है। उस वक्त जब उसके प्रशंसक, पुजारी मित्र और परिचित एक बड़े दर्द में खोए हों, तब उन्हें साहिर की 'तल्खियों' में ले जाना उचित नहीं है।

अब जवाहरलाल नेहरू के निधन पर कही गई उसकी कुछ पंक्तियों के साथ ही मैं अपना सिर उसे अपनी श्रद्धांजलि देने के लिए झुका लेता हूं।

"जिस्म की मौत कोई मौत नहीं होती है। जिस्म मिट जाने से इंसान नहीं मर जाते"—

**धड़कनें रुकने से अरमान नहीं मर जाते,**
**सांस थम जाने से ऐलान नहीं मर जाते,**
**होंठ जम जाने से फरमान नहीं मर जाते,**
**जिस्म की मौत कोई मौत नहीं होती है।** ●




संपूर्ण विश्व में भारत पहला देश है, जहाँ परिवार नियोजन कार्यक्रम सरकारी स्तर पर शुरू किया गया। यह स्वत: इस बात का प्रमाण है कि हम इसे कितना अधिक महत्व देते हैं। और, यह तो सबको मालूम है कि हमारे देश की आबादी कितनी तेजी से बढ़ती जा रही है।

यदि हम आबादी का बढ़ना नियंत्रित नहीं कर पाए, तो क्या अपने देश को आर्थिक दृष्टि से मजबूत और विकसित बना सकते हैं? क्या इसका कोई विकल्प है? वास्तव में दोनों दृष्टि से विकास जरूरी है। पहले तो लोगों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए विकास होना चाहिए और फिर इसलिए कि जब विकास होता है, तो परिवारों का बढ़ना अपने आप संतुलित होने लगता है। मतलब यह है कि जब आदमी का अपना एक स्तर बन जाता है, तो वह अपने बच्चों के प्रति दायित्व को भी समझने लगता है और वह अधिक जागरूक हो जाता है। वह ऐसा महसूस करने लगता है कि उसके पास जो-कुछ है, वह बच्चों के लिए पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार, वह छोटे परिवार की बात सोचने लगता है। फिर भी आबादी की अनियंत्रित वृद्धि रोकने के लिए कई स्तरों पर प्रयास करने होंगे। और अनेक उपायों के साथ-साथ लोगों को समझा-बुझाकर और इसका महत्व बताकर, परिवार नियोजन के लिए तैयार करना होगा।

यह ठीक है कि यदि जनसंख्या वृद्धि पर काबू नहीं पाया जाएगा, तो लोगों को विकास का पूरा फल नहीं मिल पाएगा। फिर भी यह एक चक्र है। उदाहरण के लिए, पंजाब में, जहाँ कृषि अथवा उद्योग के क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है, या केरल में, जहां शिक्षा के क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है, जन्म दर में गिरावट आई है।

परिवार नियोजन के साथ महिलाओं के मूल अधिकार का सवाल भी उठता है। क्या कोई मां चाहेगी कि ऐसी स्थिति में भी वह बच्चे जनती चली जाए जब उनके पालन-पोषण के लिए उसके पास भरपूर साधन न हों। लेकिन, सवाल केवल माताओं का ही नहीं है। क्या पिता को इससे अलग रखा जा सकता है? यह सही है कि सारा बोझ माता को ही उठाना पड़ता है, बच्चे जनना भी और पालना भी। फिर भी इस मामले में उसकी राय नहीं पूछी जाती। उसकी सुख-सुविधा की भी विशेष चिंता नहीं की जाती। और, दुर्भाग्यवश इस प्रकार बच्चे की ही सबसे अधिक उपेक्षा होती है। आज माता और पिता दोनों को मिलकर तय करना चाहिए कि उन्हें कितने बच्चे चाहिए, ताकि वे अपने बच्चों के प्रति दायित्व निभा सकें, और, बच्चों को वह सब कुछ दे सकें, जो उनका अधिकार है।

यह स्पष्ट है कि परिवार नियोजन को कोई विवाद का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए। लेकिन, पिछले वर्षों में यह देखा गया कि कुछ पार्टियां या दल परिवार नियोजन के विरुद्ध जोरदार अभियान चलाते रहे। एक धर्म के लोगों को यह बताया जाता रहा कि परिवार नियोजन अपनाने से उनकी संख्या घटती जाएगी और एक दिन उनका अस्तित्व ही मिट जाएगा। दूसरी ओर अन्य धर्म के लोगों को यह भय दिखाया गया कि उनकी संख्या कम हो गई, तो वे कठिनाई में पड़ जाएंगे। नसबंदी के विरुद्ध भी तरह-तरह का प्रचार किया गया। हम, चूंकि जोर-जबरदस्ती में विश्वास नहीं करते, और लोगों को समझा-बुझाकर परिवार नियोजन के लिए तैयार करना चाहते हैं, इसलिए, यह काम बहुत बड़े पैमाने पर शुरू करना होगा। और प्रत्येक व्यक्ति को इसके लिए राजी करना होगा।

# परिवार नियोजन

## प्रधानमंत्री से दूरदर्शन की भेंट वार्ता पर आयोजित

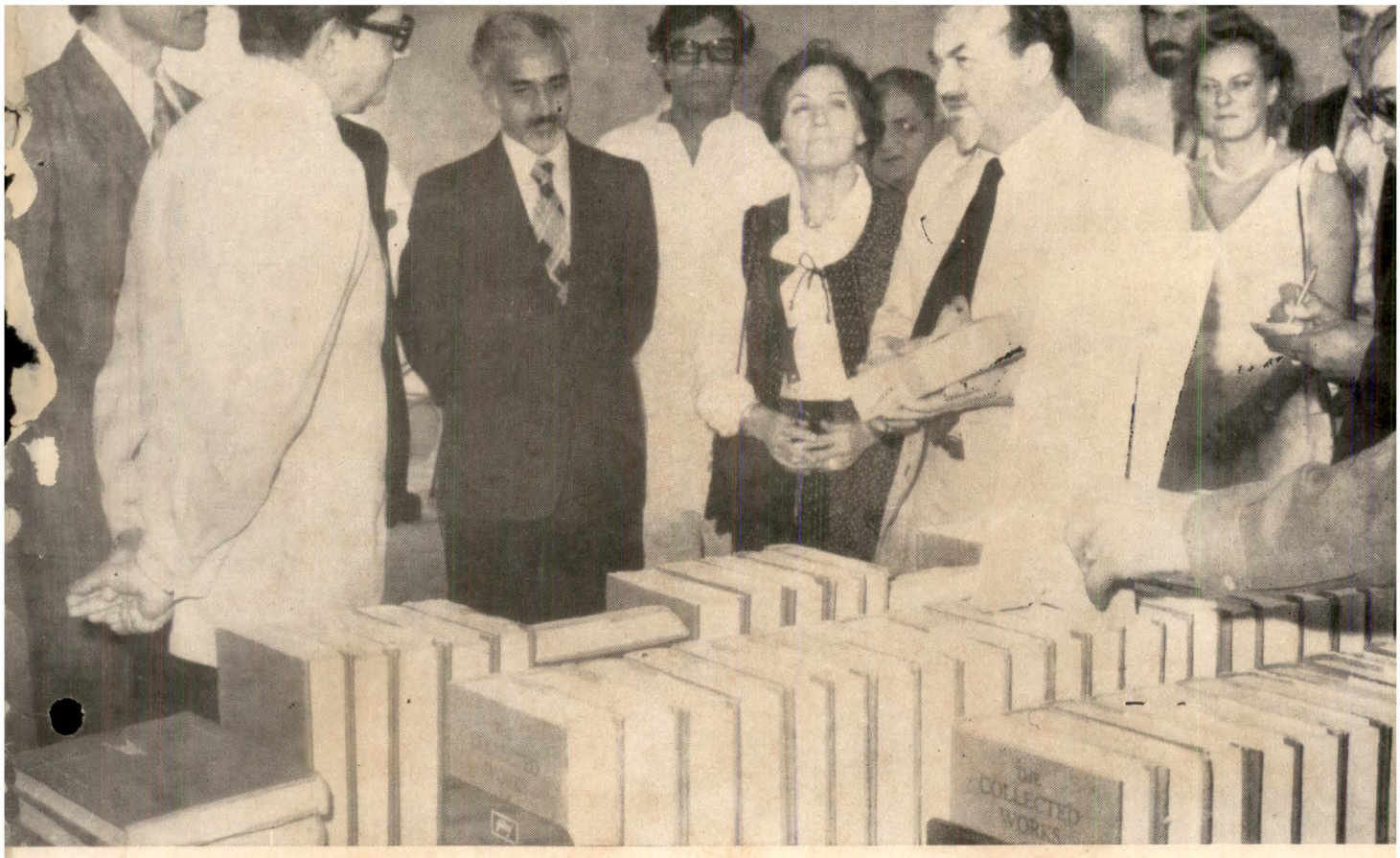
इस दिशा में पिछले कुछ वर्षों में जो-कुछ हुआ है, वह बहुत ही अपर्याप्त और निष्प्रभावी रहा है। अत: हम ऐसा महसूस करते हैं कि सरकार के अधीन केवल एक विभाग बना देने से काम नहीं चलेगा। संपूर्ण समाज को, खास तौर से विद्यालयों, समस्त युवा आंदोलन, महिला संगठनों और समाज कल्याण के काम लगी सभी संस्थाओं को इस काम में आगे आने को प्रेरित करना होगा। मेरा मतलब है कि परिवार नियोजन के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करने के काम में हर व्यक्ति जुट जाए। तब आपको पता लगेगा कि महिलाएं, सभी जगह, गांवों में भी, इसे अपनाने के लिए तैयार खड़ी हैं। हां, एक बात पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। वह है लोगों का स्वास्थ्य। यदि स्वास्थ्य का स्तर अच्छा नहीं रहा और बच्चों के मौत का शिकार बनने का खतरा बना रहा, तो लोग परिवार नियोजन को अपनाने में संकोच करेंगे। अच्छे स्वास्थ्य के साथ ही शिक्षा, और बाद में रोजगार सुनिश्चित करने की भी आवश्यकता है। वास्तव में यह संपूर्ण राष्ट्रीय योजना का ही एक अंग है।

परिवार नियोजन के लिए लोगों को प्रेरित करने की दृष्टि से तरह-तरह की प्रोत्साहन योजनाएं चलाई जाती रहीं हैं, इन्हें आगे बढ़ाने के लिए इनकी भी समीक्षा करने की जरूरत है।

मैं नहीं समझती, परिवार नियोजन के लिए कानून के जरिये कोई नैतिक वातावरण कैसे तैयार किया जा सकता है। यहां तो प्रश्न जीवन के प्रति दृष्टिकोण अथवा मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने का है।

कुछ लोगों का विचार है कि महिलाओं के लिए शिक्षा और रोजगार का प्रबंध करने से, जिनसे समाज में उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, जन्म दर घटने लगती है। विभिन्न अनुसंधानों से इसकी पुष्टि भी हुई है। वैसे शिक्षा और रोजगार का प्रबंध तो संपूर्ण देश के लिए आवश्यक है। **अ० प्र० केशरी**

निदेशक प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा प्रिंटिंग प्रेस इंस्टीट्यूट फॉर दि डैफ, 4E/6, झंडेवालान एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित।




↑
सूचना और प्रसारण मंत्रालय के सचिव श्री ए० के० दत्त द्वारा डेन्मार्क के प्रधानमंत्री श्री जोरगेंसन को गांधी वाङ्मय के 78 खंड प्रस्तुत करते हुए। इसी मंत्रालय के प्रकाशन विभाग ने ये खंड प्रकाशित किए हैं।



←
केंद्रीय सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग द्वारा चंडीगढ़ में आयोजित पुस्तक-प्रदर्शनी में पंजाब के शिक्षा मंत्री श्री हरचरणसिंह अजनाला पुस्तकों का अवलोकन करते हुए। उनके साथ प्रकाशन विभाग के निदेशक श्री शंकर भट्ट खड़े दिखाई दे रहे हैं।

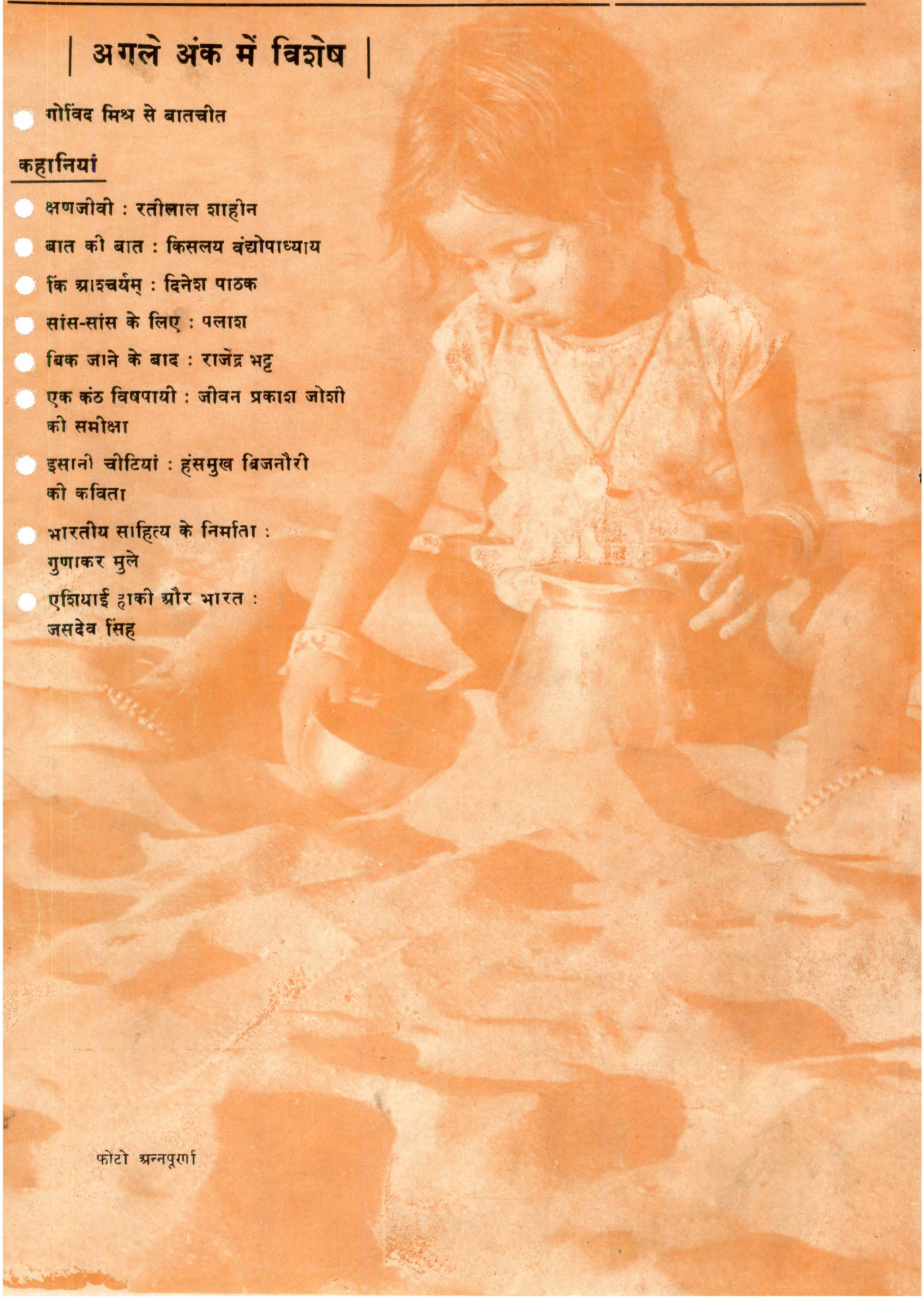
Licenced U (D) 49 to post without pre-Payment at Civil Lines Post Office, Delhi.

# अगले अंक में विशेष

- गोविंद मिश्र से बातचीत

## कहानियां

- क्षणजीवी : रतीलाल शाहीन
- बात की बात : किसलय वंद्योपाध्याय
- किं आश्चर्यम् : दिनेश पाठक
- सांस-सांस के लिए : पलाश
- बिक जाने के बाद : राजेंद्र भट्ट
- एक कंठ विषपायी : जीवन प्रकाश जोशी की समीक्षा
- इसानी चीटियां : हंसमुख बिजनौरी की कविता
- भारतीय साहित्य के निर्माता : गुणाकर मुले
- एशियाई हाकी और भारत : जसदेव सिंह



फोटो अन्नपूर्णा